http://www.jainkosh.org

सहजानंद शास्त्रमाला

सुख यहाँ

भाग 4

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सुख यहां चतुर्थ भाग

लेखकः—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—
महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

प्रकाशक —
खेमचन्द, जैन सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण] १००० — १९६४ — [न्यौछावर १)

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान्, जो मैं हूं वह हैं भगवान्।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं राग वितान॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम॥

[५]

होता स्वयं जगत् परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम॥

(अहिंसा धर्मकी जय)

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सुख यहां चतुर्थ भाग

नोट :— इस पुस्तकके ८ श्लोक की प्रेस कापी आगराके एक प्रेसमें ही थी वह उसने गुमा दी। अतः नवें श्लोक से प्रारम्भ किया जा रहा है।

सम्पदा विपदा भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-९॥

चाहे सम्पदा हो जाय, चाहे आपदा आये, ये सब बातें बाहर की हैं। मैं तो ज्ञानमय हूं। इस निज आत्माको तो देखो कि यह कितना है और यह ऐब करे, ऊधम करे तो यह कितना क्या कर सकता है? केवल अपने सत्वको देख करके यह अपनेमें जो चाहे परिणमन करे, इतनी ही तो बात है। अब वह परिणमन पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिकूल है तो दुःखी होता है और पदार्थोंके स्वरूपके अनुकूल ज्ञानपरिणमन है तो सुख होता है।

मैं तो ज्ञानमात्र हूं, किसमें संतोष करूँ? और किसमें रोष करूँ? सबसे बड़ी विपत्ति जीव पर अज्ञान की है, मोह की है, भ्रम की है। वास्तव में विपत्ति एक ही है। इस एक ही विपत्तिके विषयभूतसे अनेक रूप बन जाते हैं।

अगर किसी दुःखीके पास आप बैठ जायें और उसकी कहानी सुनने लगें तो सुनते जावें और सब परखते जावें तो आपको विदित होगा कि इस बेचारे ने अपनी दृष्टि किसी परमें लगायी है। उसने मोह किस जगह किया है, यह सब निरखते जाओ, उसकी सारी दुःखकी कहानी में परद्रव्यका मोह मिलेगा। और निर्णय करते जाओ कि इसने अमुक परद्रव्यों से मोह किया है इसलिए दुःखी है। कोई क्या कहेगा? कोई लड़के की बात सुनायेगा। लड़का ऐसा कपूत हो गया है, यों धन बर्बाद करता है, संभालता भी नहीं है, कोई क्या कहेगा कि स्त्री लड़ती है, घरमें बनती नहीं है, ऐसी ही और-और बातें भी करेगा। व्यापार की, लेन देन की। इन सब बातोंका जो क्लेश है उसे मैंने स्वयं निर्मित किया है। जिसे अमुक पदार्थोंका व्यामोह है इसलिए उसे क्लेश ही क्लेश बाहरी पदार्थोंसे नहीं आते, किन्तु अपने आपके स्वयं विचारों से आते हैं।

एक राजा था। उसने एक दूसरे राजा पर चढ़ाई कर दी, जीत गया और बचे हुए पुरुषोंमें से एक पुरुष जंगलमें चला गया और साधु हो गया और बाकी बचे हुए पुरुष भी सब मर गये। अब राजा सोचता है कि अब राज्यका क्या करना है? जीतना था सो जीत गये। अब ढूंढते फिरते कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किसी परिवार का कोई पुरुष मिले, उसे राज्य दे देते। बहुत ढूँढा पर वे सब मर गये थे सो कैसे मिलें? उनको खबर मिली कि एक पुरुष बच गया है। वह धर्मसाधना कर रहा था। सो राजा उसके पास पहुंचे। बोले, इस धर्म साधनाको छोड़ दो और अब महलोंमें चलो। जो चाहोगे सो तुम्हें मिल जायगा। उस साधुने कहा, हां हां चलो पर मुझे ऐसा सुख देना कि जिस के बाद फिर कभी दुःख न मिले। पहिली चीज यह माँगी। राजाने सोचा कि हम तो यह नहीं दे सकते। कहां तक क्या दे सकते हैं?

एक जंगलमें एक साधु महाराज थे। वे कठिन धूपमें तपस्या कर रहे थे। सो राजाको उसको देखकर दया आ गयी। राजा बोले – महाराज नीचे से भी तपन और ऊपर से भी तपन, कितनी परेशानियां आपको होंगी? आपको जूते बनवा दें। साधुने कहा कि अच्छा हमें जूते बनवा दोगे तो गर्मी तो मिट जायगी। ठीक है बनवा देना। राजा, बोला हां बनवा देंगे। साधुने कहा, पर एक बात तो बताओ कि नीचे की तपनके लिए जूते हो गये, पर ऊपरकी धूप तो सताती है। राजाने कहा, छतरी ला देंगे। तो छतरी हो जायगी, जूते हो जायेंगे पर सारा शरीर ढकने को तो कुछ चाहिये। राजाने कहा रेशमके कपड़े बनवा देंगे। कहा ठीक है ऐसी वेशभूषा के हो जाने से खाने को कौन देगा, खायेंगे क्या? यत्र तिष्ठ यत्र तिष्ठ कौन कहेगा? कौन खाना देगा? खाना कौन बनायेगा? राजाने कहा शादी कर देंगे। स्त्री खाना बनायेगी। ५ गाँव और लगवा देंगे। मगर चलने में तब तो आलस्य आ जायगा। कहा, मोटर दे देंगे। फिर बच्चे होंगे उनका गुजारा चाहिये। कहा १० गाँव और लगा देंगे। कहा ठीक है, पर एक बात ख्याल आयी कि लड़के जब होंगे, लड़कियाँ जब होंगी तो उनकी मृत्यु होगी, दामादों की मृत्यु भी होगी तो रोना भी पड़ेगा। तो राजा बोले महाराज और सब कुछ तो हम कर सकते हैं, पर रो नहीं सकते हैं। रोना तो उसे ही पड़ेगा जो मोह करेगा। हम तो रो नहीं सकते। रोने की जुम्मेदारी तो उसी पर है जो मोह करेगा।

घरके लोग, मित्रजन, रिश्तेदार आदि बहुत हैं। सभी मन बहलाते हैं, मौज करते हैं पर जिसके चोट लगी होगी, जिसके इष्टवियोग होगा ही तो उसे चोट को भोगना पड़ेगा जिसके चोट लगी है।

यह जीव बिल्कुल असहाय है। यह जैसा भाव करता है तैसा ही इस पर बीतता है। इसकी मदद दे सकने वाला कोई भी पदार्थ नहीं है। सो चाहे सम्पदा हो, और चाहे विपदा हो मैं तो केवल एक ज्ञानमात्र ही हूं।

Version 1

फिर मैं किन बातों से संतोष करूँ ? क्यों जी ! कोई धन चाहने वाला हो और उसके आगे लाख, करोड़, अरब, खरब कितने ही रुपये पटक दें तो उसे संतोष हो जायगा क्या ? संतोष चाहे न हो पाय, मगर घबड़ा जरूर जायगा।

जगत्‌में कौनसी विभूति, कौनसा परपदार्थ ऐसा है जो इसके आनन्द गुणके सीधे परिणमन को बना सके ? किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। सो बाह्य पदार्थोंसे संतोष और रोष न करके अपने आपमें ही अपने आपको सुखी करने का यत्न करूँ।

अयशो वा यशो भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि. ते न मे।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१०॥

चाहे अपयश हो, चाहे यश हो, देखो भीतर की एक बड़ी हिम्मत की बात है। यदि ज्ञानमात्र निजस्वरूपकी प्रतीति हो गयी है तो उस अपयश और यश पानेसे भला हुआ। तेलकी भाँति उसकी ऊपरी बातें मालूम होती हैं। भीतरमें उनको अङ्गीकार न करना और उनके ज्ञाता दृष्टा मात्र रहना, यह है बड़ी हिम्मत की बात और एक शुद्ध ज्ञान दर्शन के परिणाम की, यश, अपयश की बात होकर भी यह अपने आपको अछूता तके। अपने आपको देखे कि मैं क्या हूं ? जगतके सब जीव भी किसी प्रकार का परिणमन करदें ऐसा हो ही नहीं सकता है। यह ही बिगड़ कर, खुद से हट कर याने भ्रष्ट होकर जब बर्तता है तो दुःखी होता है। कहने की बातें बहुत हैं, साहित्य हैं, पुस्तकें हैं, सब कुछ हैं मगर फल उसको ही मिलता है जो इस तरह की वृत्ति अपनेमें कर सकता है। यह इज्जतका ध्यान, ख्याल एक विकट व्यामोह है। इज्जत कौन करता है और इज्जत किसकी होती है ? मेरा यश और अपयश करने वाला कोई नहीं है। यह जो परमार्थतत्व है वह तो सबसे निराला अपने स्वभावमात्र है। सो यह प्रसंग तो ऐसा है। जैसा कि इस कहानी से विदित है।

किसी ऊँटका विवाह हो रहा था। ऊँट तो टेढे मेढ़े होते हैं। उनको यदि छू लिया जाय तो हाथ उलासने लगें। सो किसी ऊँट का विवाह था, विवाह में गारी गाने वाला कोई न कोई चाहिए ही तो ऊँटने गारी गाने के लिए गधों को बुलावा दिया। गधोंने क्या गाया कि दूलहा और बरातियों की प्रशंसा की। बड़ा सुन्दर रूप है, जगतमें अनुपम आप लोगों का शरीर है। ऊँट बोले - वाह-वाह कितनी सुन्दर ध्वनि है ? कितना सुन्दर राग है ? कितना बढ़िया गला है ? ऊँटोंने कर दी गधों की प्रशंसा और गधोंने कर दी ऊँटों की प्रशंसा।

सो कड़वी बात हो तो तनिक कोमल बनालो। सोई ऐसा हो रहा है कि यहां प्रशंसा, यश, अपयश, इज्जत इत्यादि बातें चल रही हैं। ये जो सम्मान समझते हैं और जो सम्मान करते हैं उनकी यह बात है। यों तो व्यवहारमें प्रत्येक सत् पुरुषका यह कर्तव्य है कि दूसरों का सम्मान करे। मगर जहां द्रव्यदृष्टि नहीं, यथार्थदृष्टि नहीं और उस ही इज्जतमें एकमेक हो रहे हैं उनकी बात कही जा रही है। अरे भाई चाहे यश हो, चाहे अपयश हो। यह मैं तो ज्ञानमात्र ही हूं। तो किसमें संतोष करूँ और किसमें रोष करूँ ?

हे भगवान्, ऐसा कब बल आये कि सरासर अपमान सामने हों, दुर्वचन सामने हों और यह मैं अपनेको यों तक सकूँ कि यह अपना स्वरूप पूर्ण स्वच्छन्द 'अमर' किसी परके द्वारा कुछ भी इसमें नहीं हो सकने वाला–ऐसा यह मैं आनन्दमय ज्ञानतत्व हूं, ऐसा निरखकर अपनेको बलिष्ठ बना सकूँ ऐसी कब क्षण हो ? और ऐसी भावना जागृत हो कि मैं अपने ज्ञानको इतने दृढ़ उपयोगसे देख सकूँ कि इन बाहरकी घटनाओंसे अपने आपमें क्षोभका कारण न बन सकूँ। बात कठिन है मगर करने वाला जीव ही तो होता है। और देखो—

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारन असि प्रहारनमें सदा समता धरन॥

जिन्होंने ऐसा किया, वे जीव कुछ और नहीं थे। बिल्कुल हम आपकी ही तरहसे थे, कुछ भेद नहीं था, जो स्वरूप उनका था वही स्वरूप हमारा है। वे कर सके तो यह मैं भी कर सकता हूं।

कोई युद्धका मौका था, स्त्रीने अपने पति से कहा कि युद्ध हो रहा है तुम भी अपनी देश सेवाको चले जावो तो बोले कि युद्धमें चले जायें तो यों ही प्राण चले जायेंगे। जो छोटी चक्की होती है, उसमें स्त्रीने चने डाल दिए और दाल बनायी, पर कुछ चने समूचे रह गये। कहा, देखो ये चने तो फूटनेसे बच गये ना ? यदि हम ऐसा सोचते हैं कि हम सिद्ध देव जैसे नहीं हैं, हम तो लटोरे खचोरे जैसे विषयी पतित जीवोंमें से हैं–यदि ऐसा विचारें तो फिर अपना उत्थान कहांसे हो ? अपना ज्ञान बल बढ़ इसमें ही सार है, जिससे कि किसी परपरिणतिका अपने आप पर कोई असर नहीं हो सकता।

जीवनं मरणं भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–११॥

यह आत्मा एक स्वयं सत् है। जो सत् होता है वह अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहता है। जो कभी न था और अब हो जाय, ऐसा जगत्में

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कुछ नहीं है। जो है और वह बिलकुल मिट जाय, ऐसा भी लोकमें कुछ नहीं है। यह मैं आत्मा स्वयं सत् हूं, अनादिसे हूं और अनन्त काल तकके लिए हूं किन्तु कर्म उपाधिके बन्धनके वशसे विधानपूर्वक यह जीव नारक, तिर्यञ्च मनुष्य, जीव, पर्यायरूपमें उपस्थित है। जैसा जो मनुष्य-आयुका उदय है निर्मित है। जिस क्षण मनुष्य न रहेगा अन्य कोई गतिका उदय आयेगा, उस क्षण यह स्थूल शरीर न रहेगा और दूसरे स्थूल शरीरके लिए यह चला जायेगा। बस इसी परिस्थिति का नाम जीवन और मरण है। वैसे आत्माका मरण नहीं होता, किन्तु होता क्या है ? शरीरका बदलना। जिसे लोग कहते हैं चोला बदल गया। एक चोला समाप्त हुआ और दूसरे चोले का ग्रहण किया।

सो यदि अपने आपकी निजी बातें सोचते हो तो जीव वही है, परिणमनशील है सो अपने परिणाम कर रहा है। ये बातें अब भी हैं और जिसे मरण कहते हैं उसके बाद भी यही बातें हैं। जीवन हो और मरण हो आत्माके लिए एक ज्ञेय परिस्थिति है। "तन उपजत अपनी उपज जान। तन नसत आपको नास मान॥" ऐसी उपयोगवृत्ति बनती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मरण समय इस जीवको बड़े संक्लेशके अवसर हो सकते हैं और कुछ तो परिस्थिति ऐसी है कि जब जीव शरीरसे निकलता है तो शारीरिक कष्ट होता है। जैसे कि देखते भी हैं लोगोंको कि दुःखमयी प्राण छातीके दिल में है। छाती भी उत्तर देना बंद कर देती है। कुछ अवसर भी इस प्रकार है और फिर अपने आपकी ममता इस दुःखको बीस गुनी बना देती है। मरते समय जीवको जो क्लेश हैं, देखे जाते हैं वे दुःख मोहके कारण हैं। अब भैया को छोड़कर जा रहे हैं, घर छोड़कर जा रहे हैं। दस साल रहकर इतनी बड़ी हवेलियां बनायीं थी, इतना बड़ा वैभव इकट्ठा कर लिया था, अब आरामके दिन थे, बड़े मौजसे रहते, हाय क्या हो रहा है ? नन्हें नाती को यह जायदाद लिख देना, फजाने को तार दे देना कि जल्दी-जल्दी आ जायें। कितने-कितने विकल्प होते हैं जिनके क्लेश बना रहे हैं।

सच पूछो तो जो जन्म उत्सव मनाया करते हैं उससे अच्छा तो है कि मरणका उत्सव मनावें क्योंकि जन्मते समय प्रत्येक मनुष्यकी मलिनता की वृत्ति रहती है। वहां परिपक्व ज्ञान नहीं होता है। परन्तु मरते समय पुरुष ज्ञान, ध्यान, सावधानी रख सकता है और इसका भावी जीवन इसके होनहार उस मरण के समय के परिणामोंपर निर्भर है। बिना जीवनके जन्म के समयके परिणामों पर जिन्दगी निर्भर नहीं। मरणके समय सावधानी रखने की अत्यन्त आवश्यकता है तो भी जिसने अपने स्वरूपास्तित्वका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

निर्णय किया है, सबसे प्रकट भिन्न ज्ञानबलसे उसे आत्मा नजर आ रहा है—ऐसे ज्ञानी पुरुषका जीवन और मरण उसकी ज्ञेय परिस्थितियां हैं।

जीवन हो या मरण हो, मैं तो ज्ञानमात्र हूं। जीवन और मरण मेरी ये दोनों चीजें नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं। फिर मैं कहां तो संतो करूँ, कहां रोष करूँ। इस जीवनसे मैं क्या संतोष करूँ ?

यदि बुरे परिणामों सहित जीवन चल रहा है तो वह ऐसे मरणसे भी भयंकर है और यही बड़ी सावधानीसे शुद्ध आत्मस्वभावकी दृष्टि प्रतीति सहित मरण के लिए रहता है तो वह सबसे बढ़कर चीज है। जन्मके बाद दुःख कहांसे उठता है और मरणके बाद अरहंत भगवान्के दुःख मिट जाते हैं। खैर अरहंतके दुःख हैं तो अपने आपके ही ऊपर अपने आपसे मिटते हैं पर यह बताना है कि आयुके क्षयका निर्माण होता है। आयु द्वारा बड़ा निर्माण नहीं होता है। निर्वाण गमन कहो या मरण कहो एक बात है। मरण शब्द जरा कठोर बात है और निर्वाण यह उत्तम शब्द है। तो जीवन से संतोष न करो। कोई जिन्दा है, चल रहा है, क्या चल रहा है ? इस जीवनसे क्या लाभ निकला ? इस जीवनसे हित है नहीं, मरणसे हित है नहीं, अज्ञानसे हित है नहीं, पर ज्ञानसे हित है। इसलिए उस जन्ममें क्या संतोष करूँ और मरणमें क्या विवाद करूँ। ज्ञानमात्र वृत्ति रह सकती है तो संतोषके लायक बात है और ज्ञानमात्र वृत्ति नहीं रह सकती है तो उस जीवनसे फायदा क्या है ?

मायास्था मयि हृष्टाः स्युः रुष्टा मे ज्ञस्य का क्षतिः।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१२॥

पश्चिम से आये हुए ये लोग, लौकिकभाषा में रहने वाले लोग चाहे मुझ पर खुश हो जायें, चाहे मुझ पर रुष्ट हो जायें, पर इस ज्ञानमात्र मुझ आत्माकी क्या क्षति है ? माया नाम है पर्यायका और परमार्थ नाम है द्रव्य का। जैसे अन्य जगहमें परमार्थ नाम है द्रव्य का और माया नाम है इन सब खटपटों का। माया के माने मत्, नहीं, यह हैं। जो परमार्थ नहीं सो यह है, जो यह है सो म माने परमार्थ नहीं है। स्वरूप दृष्टि का महात्म्य महान् है। द्रव्य और पर्याय अस्तित्व में होते हुए भी इसमें स्वयंभेदसे भेद है। एक चीज होते हुए भी इसमें स्वयंभेदसे भेद ही अतद्भाव है, प्रदेश भेद नहीं है। यह मैं ज्ञानस्वरूप स्वभाव और ये क्रोध मान आदिक कषाय ये भिन्न-भिन्न क्षेत्र में नहीं हैं, जुदे सत् में नहीं हैं, लेकिन जो मेरे ज्ञानस्वभाव का स्वरूप है वह कषायों का स्वरूप नहीं है और जो कषायोंका स्वरूप है वह मेरे स्वभाव का स्वरूप नहीं। स्वरूपभेद करके ध्रुवस्वरूप में आत्मी-

http://sahjanandvarnishastra.org/

यता का अनुभव करना और अध्रुवस्वरूप में आत्मीयता का अनुभव न करना इस प्रज्ञा के प्रयोग से अद्भुत फल प्राप्त होता है। इसलिए आत्म-स्वभावकी दृष्टि करने वाले संतजन ऐसी भावना करते हैं सोचते हैं कि माया में ठहरे हुए ये लोग, विषयकषायों में लगे हुए ये लोग यदि मुझ पर हर्षित हो जायें, मुझ पर प्रसन्न हो जायें तो ये मेरा लाभ क्या करेंगे ? और मुझ पर रुष्ट हो जाय तो मेरी हानि क्या करेंगे ? उनका परिणमन उनमें होता और समाप्त होता है, हमारा परिणमन हममें होता और समाप्त होता है। और यदि यह मायास्थ पुरुष खुश हो जायें तो खुश होने के प्रसाद ये भी आपदा मिलेगी और रुष्ट होने के प्रसादमें भी आपदा मिलेगी।

जैसे पिता अपने बेटों पर कितना खुश रहता है ? उस खुश रहने के परिणाममें वह क्या करता है कि बच्चोंको चौथी कक्षा में यदि मास्टर ने पीट दिया तो वह बोलता है कि हमें अपने बच्चेको नहीं पढ़ाना है। या वह उन पर खुश हो गया है और आगे चलो तो जल्दी ब्याह कर देते हैं। और-और साधन जुटा देते हैं। दूकान कराते, अमुक काम कराते। ये साधन उसके मोह बढ़ाने के साधन हुए या ज्ञान बढ़ाने के साधन हुए ? कौन सा पिता ऐसा होता है जो यह सोचे कि मेरा बच्चा आनन्दकी दृष्टि पा ले तो अच्छा है। ऐसा यदि कोई बाप हो तो हमें पता नहीं, पर प्रायः जो हमें दिखते हैं वे यही कि पुत्र के आत्मा के हित की बात तो नहीं, देखते किन्तु अपने कषायों की बात देखते हैं तो ये मायास्थ पुरुष खुश हों तो क्या, रुष्ट हों तो क्या ?

कभी किसी ने स्वप्न देखा है या नहीं, पर हमनें तो देखा है इसलिए कह रहे है कि जब बहुत बुखार है, रजाई ओढ़े हैं, जाड़ा लग रहा है, कुछ नींद आ गयी है, स्वप्न देखने लगे कि कहीं पड़ा हूं रेल की पटरी पर या पटरी के बीच में, ऊपर से रेल निकल रही है, मैं अपने को बहुत संभाल रहा हूं, जमीन से चिपककर अपने को संभाले हूं। देख रहे हैं कि गाड़ी निकल रही है और में सुरक्षित हूं, थोड़ी सी और रह गयी, अब सब निकल गयी। अब मैं आनन्दमय हो गया। नींद खुल गयी, वहां कुछ नहीं था और बुखार मिट गया। ऐसा स्वप्न कभी-कभी जब बुखार से निवृत्ति होती है तब आते हैं, इसी ढंग के आते हैं।

आपमें इन सब परिस्थितियों में कोई खुश हो रहा है, कोई रुष्ट हो रहा है, कोई किसी प्रकार चल रहा है, कोई किसी प्रकार चल रहा है। उन सब परिषतियों के बीच जिसे कल्पनाओं से आपदा मान लेते हैं उन परिस्थितियों के मध्य भी अपने आपको इतना दृढ़ बनाये रहें, अपने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आपको केन्द्र से सटा हुआ चिपका हुआ, अपने को ऐसा मजबूत सावधान बनाये रहें कि यह बात अमुक जगह से यों आयी और यों निकल गयी। आपस की बात उठ निकलेगी। अपना जीवन इस तरह से गुजार दो कि अपने आपको भीतर अपने केन्द्र से सिमटा हुआ मजबूत बनाकर इन सब आपदाओं को निकाल दो। आपदा क्या है ? ये मायास्थ जन कोई खुश हो गया है, कोई रुष्ट हो गया है। उनकी यह परिणति है, उनका यह विकल्प है, आपदा कुछ नहीं है। आपदा तो मोहसे मान ली है।

सो ये कोई कहीं कैसा भी परिणम नहीं, उससे मेरा सुधार बिगाड़ नहीं है। किस बातका संतोष करूँ, किस बात का रोष करूं ? क्या करोड़ों का धन हो जायगा तो संतोष की स्थिति हो जायगी ? केवल स्वप्न देख रहे हैं ऐसा मात्र लगता है। करोड़ों की सम्पदा के बीच क्या गुजरा है सो उन सेठों की परिस्थितियों को देख लो। प्रायः सब लोग जानते ही हैं, दूसरों के द्वारा सुनकर, खबरों के द्वारा सुनकर क्या उन पर गुजरा है ? संतोष नामक चीज क्या है ? आत्माके गुणों की पर्याय है आनन्द। मेरी गुणों की पर्याय किसी अन्य वस्तु से प्रकट होती है। यह कितनी असम्भव बात है। वे प्रत्येक पदार्थका निमित्त पाकर यह करते हैं पर जो शुद्ध आनन्द की बात है वह तो परका आश्रय करके होती ही नहीं है, तब कहां संतोष करूँ ?

उस मृग की तरह हालत है जो प्यासा है, रेतीले स्थान पर खड़ा है। कहीं आगे के रेत को देखता है तो पानी की आशा से दौड़ता है, पास पहुंचता तो पानी नहीं मिलता। फिर सिर उठाया, बाहर का रेत पानी जंचने लगा, दौड़ा, पास पहुंचता है तो पानी नहीं पाता है। पानी की आशा से दौड़ लगा-लगा कर दुःखी होकर वह हिरण प्राण गँवा देता है। इसी तरह नवीन-नवीन विषयों की आशामें अपने जीवनमें दौड़ लगाकर, भटक कर, थककर अन्तमें यह भी प्राण गँवा हैं। देते कहीं कुछ हो, अपने आपको देखो, अपने आप की सही व्यवस्था बनालो जिससे अपने आप का कल्याण हो।

ज्ञानी ज्ञानरतोऽज्ञानी मायास्थः परलोचकः।
मायास्थवाचिको रोषः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–१३॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञानमें रत रहता है और अज्ञानी पुरुष मायामें स्थित रहता है। जो दूसरों की आलोचना करने वाले हैं वे मायास्थ हैं, ज्ञानरत तो नहीं हैं। जो दूसरों की निन्दा और भी विवाद आदि करने वाले हैं। इतना तो निश्चित है कि वे ज्ञान से रत नहीं हैं, मायास्थ हैं। सो और भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अधिक देखो तो जिसकी निन्दा की प्रकृति है और निन्दा करता है उस पुरुष को उन्मत्त मोही कहेंगे। जिस आत्माके स्वाधीनता नहीं है, बाह्यमें ही दृष्टि फँसी है और अपने आप पर चाहे वह कैसी ही निन्द्य परिणति वाला हो, पर मानते हैं उच्च, इसी कारण दूसरे मेरी नजर में निम्न हैं। तब ऐसी वृत्ति वाले पुरुष मायास्थ कहलायेंगे या ज्ञानी? उत्तर मिलेगा। मायास्थ उन्मत्त।

जब आप सड़क से निकलते हैं। कोई पागल मिलता है और वह गालियां देता है, बुरे बचन बोलता है और आपको यह मालूम पड़ जाय कि यह तो पागल है तो फिर उसके बचनों में आपको बुरा न लगेगा क्योंकि आप यह जान गये कि यह पागल है, होश में नहीं है, यह तो दयाका पात्र है। इतनी बात समझ में आने पर कि पागल है, दीन है, उसकी गालियों को बुरा नहीं मानते। सोचते हैं कि बेचारा खुद पागल है।

इसी तरह जो निन्दा करने वाले हैं, आलोचना करने वाले हैं वे पुरुष उन्मत्त हैं, ज्ञानी तो नहीं हैं, वे खुद अपनी सावधानी को खो बैठे हैं, दयाके पात्र हैं, स्वयं पर अज्ञान अंधेरा छाया है ऐसा जब ज्ञानमें आये तो उसके बचनों का बुरा तो नहीं मानता है। सो मायास्थ पुरुषों के बचनमें यह रोष हो—मैं तो अपने में अपने आप की स्वाधीनता रखता हुआ अपने में तृप्त रहूं।

ये स्तुवन्ति च निन्दन्ति ते दृश्यं न तु मामिमम्।
शंसा निन्दा न गुप्तस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–१४॥

जो स्तवन करते हैं, प्रशंसा करते हैं, निन्दा करते हैं, वे इस दिखने वाले पुतले का ही लक्ष्य बनाकर प्रशंसा करते हैं और निन्दा करते हैं पर जो परमार्थसत् मैं हूं उसकी न तो प्रशंसा वे करते और न निन्दा करते। मुझे तो वे जानते ही नहीं हैं। तो उस ज्ञायकस्वभाव मुझ आत्मतत्व को वे जानते ही नहीं। तो उनके इस ज्ञानमें यह व्यक्ति ही नहीं ठहरता, किन्तु एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप बर्तता है। ऐसी स्थिति में वे क्या प्रशंसा कर सकेंगे या निन्दा कर सकेंगे? और जिसने मुझे देखा ही नहीं इस दृष्य पुतले को ही निहारते हैं तो जिसको देखकर उसने गाली दी, वह गाली उसकी हुई, मेरे को नहीं हुई। जैसे कोई पुरुष गाली बकता है तो समझने वाले समझते भी जाते हैं कि मुझे कहा है लेकिन उसका नाम लेकर नहीं कहा तो कहते हैं कि न जानें किसको कह रहा है? वह समझकर भी ऐसा बोलता है। वह दुनिया में यह बताना चाहता है कि इसने मुझे गाली नहीं दी और दी भी हो तो मैंने मानी नहीं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जब खुद मान लिया तो अपने अपने लिए सोचते हैं कि मेरा प्रभाव है, मेरा असर है और जब खुद नहीं मानते तो उसका प्रभाव नहीं होता। हमें इतना जो दुःख है, जन्म मरण के चक्र काटते ही रहते हैं, इसका कारण क्या है कि मैं जैसा सहज नहीं हूं वैसा मान लिया है। मैं सुखी हूं, दुःखी, हूं दीन हूं, मेरे धन है, घर है, मेरा प्रभाव है आदि अपने आप को मान लिया तो भैया सारा खेल, सारा सुख-दुःख सब एक मानने पर निर्भर है। कोई कितना ही कुछ कह रहा हो, पीठ पीछे आलोचना निन्दा करे और जब तक ज्ञान आया हो तब तक बड़ा प्रसन्न भी है और अगर यह कल्पना आने लगे कि हमें तो किसी ने कुछ कहा तो दुःख हो गया।

इस जीव के अन्दर ही विकल्पों की चक्की चलती है, उस चक्की में यह प्रभु आत्मभगवान् पिसा जा रहा है। कोई दूसरा इसे दुःखी करने वाला नहीं है। सो चाहे प्रशंसा करें, चाहे निन्दा करें वे इस दृश्य पुतले की कर रहे हैं, मुझ आत्मतत्त्वकी नहीं। क्योंकि यह मैं गुप्त हूं। इस गुप्त ज्ञायकस्वभाव प्रभुकी न तो प्रशंसा हो रही है और न निन्दा हो रही है। प्रशंसा और निन्दा हो ही नहीं सकती सो अपनेसे उठकर बाहर ढूँढ़कर विकल्पों को क्यों करूँ? अपने को ही निहारकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

प्रशंसया न मे लाभो निन्दया का च मे क्षतिः?
स्वे हिन्म्येव विकल्पेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१५॥

प्रशंसा से मेरा लाभ नहीं है। संसारी प्राणियोंपर इतना विकट भ्रम का पहाड़ लदा है कि इसे चैन नहीं है। प्रशंसा से लाभ मानते हैं। प्रशंसा हो तो बेचैनी, न हो तो बेचैनी। इसे जगत्में किसी का कोई लगता नहीं है। और न किसीकी प्रशंसा हो जाने पर मुझे कुछ लाभ मिलता है पर एक व्यर्थका कारोबार प्रशंसाकी धुन हुई। यह विकट अज्ञानका पहाड़ शांति समाधि का अन्त दूर हो जाता है। जगतमें यह एक प्रकार का रोना है। यह एक गोरखधन्धा है और इन रागों को लगाने वाला है पुण्य कर्म। सम्पदा तो दुःखका साधन है। जो दुःखी है, पीड़ित है उसको प्रशंसा की चाहका रोग नहीं लगता। जो धनी है, ऐश्वर्यवान् है, उसके पास सुख सामग्री है, चार आदमीयों में थोड़ी सी पूछताछ है, ऐसी स्थिति में प्रशंसा का रोग लगता है।

भला खुद के जीवनका गुजारा करने के लिए कितने द्रव्य आवश्यक है? कितने में पेट भर जायगा और कितने में कपड़ों की व्यवस्था बन जायगी सो सोच लो। मामूली सी बातें हैं, कोई लखपति हो या करोड़पति

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो, वह भी अधिकाधिक धन चाहता है। इसलिए कि अभी पेट भरने का, तन ढकने का, कपड़ा मिलने का अभी जरा प्रबंध नहीं है? क्या इस कारण से अब करोड़पति होने की धुन में है? नहीं। करोड़पति हो जायें या अरबपति हो जायें किन्तु धन सभी चाहते हैं। क्या कुछ जीवन का गुजारा होने में कमी है? कमी नहीं है, पर इन सब प्रयत्नों का कारण है प्रशंसा लूटना। मैं जगतमें सर्वाधिक कहलाऊँ। अरे किसकी दृष्टि में धनी कहलवाना चाहते हो? मोही अज्ञानी जन्म मरण के चक्र में फँसे हुए हैं, उनका हित कुछ भी नहीं होता। ऐसे समुदायमें धनी कहलाने की चाह कितना विकट रोग है? गुणी कहलवाने की चाह है, सज्जन कहलवाने की चाह है, यह कितना विकट रोग है? पुण्योदय हुआ सो कुछ साधन अच्छे हुए, पर जो यह बहुत बड़ा विकट रोग है कि मेरी प्रशंसा हो, उस प्रशंसा से मेरा कुछ भी लाभ नहीं है। और निन्दा से मेरी कुछ भी क्षति नहीं है। निन्दा होना मेरा भाव है और कषाय है और उस कषायका निमित्त पाकर वचनवर्गणाओं का ऐसा फैलाव है, वह सब वहीं ही समाप्त है। किसी अन्यका इस मुझ आत्मामें प्रवेश नहीं है। तो फिर उस निन्दा में मेरी क्षति क्या हुई? मैं तो अपने ही विकल्पों से अपने आपकी क्षति कर रहा हूं।

और भी देखलो, समझते हैं कि प्रशंसा करने वालों से हमारा हित है और निन्दा करने वालों से हमारा अनिष्ट है। तो प्रशंसक के द्वारा हम को मिला क्या और निन्दकके द्वारा हमको मिला क्या? कुछ मोही जीवों ने प्रशंसा कर दिया, बड़े सज्जन हैं, बड़े ज्ञानी हैं तो प्रशंसा कर के वह अपने घर चला गया और उसको सुनकर यह हृदय में उसी को चुनने लगा, बेचैनी हो गयी, क्षोभ मच गया। प्रशंसक मेरा बड़ा हितू है। वह तो कह कर चला गया है, पर यह तो प्रसन्न हो गया, और निन्दा करने वाले ने क्या किया? एक वचन ही बोला किन्तु उन वचनों को सुनकर सावधानी का भाव आया, संयम चारित्र। सभी प्रकार के आचरणों से रहित भाव आया तो निन्दकके निमित्त से यहां कुछ सत्पथ मिला। तो प्रशंसा से क्या मिला और निन्दा से क्या मिला? वास्तव में तो दोनों ही वृत्तियों से क्षोभ मिला। वहां विकल्प करके अपने आपको ही घात किया और भी देखो, निन्दक पुरुष कितना उपकारी है कि आपके दोष कहकर, बुराई कहकर आपको तो नर्क से बचा लेगा और खुद नर्क में जाने की तैयारी कर लेगा।

दूसरों को दुर्गति से बचाकर खुद दुर्गति में जाने का उपकृत करने वाला उपयोगकारी है या निन्दक? अरे न कोई दूसरा उपकारी है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

न कोई दूसरा अपकारी है। सब अपने अपने परिणामोंकी बात है। सबसे बड़ा धन क्या ? अपना परिणाम। अपना परिणाम यदि पवित्र है, शुद्ध है, स्वभावदृष्टिमें लगा हुआ है तो ठीक है और "पापनिरोधान्य सम्पदा किम् प्रयोजनम् ?" यदि मेरे पाप रुक गये हैं तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन ?

सबसे बड़ी सम्पदा तो पाप निरोध ही है। यदि पापोंका आस्रव है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन ? पापोंका उदय आ गया तो हमें दूसरा कौन बचा लेगा ? क्या सम्पदा बचा लेगी ? नहीं। तो सबसे बड़ा वैभव है आत्मनिर्मलता। मोहमें बड़ी दौड़ लगाने वाले बंधुवों को सोचना चाहिए कि क्यों ऐसी विकट दौड़ लगा रहे हैं ? अपने को तो देखो संभालो, अपने आपमें ही समस्त सुख, वैभव भरा हुआ है। जो यह है वह बाहर नहीं है और जो बाहर है वह बाहर वाले का है। वहां मेरा नहीं है। सब कुछ पूरा पड़ेगा अपने आपसे ही, सो स्तवन निन्दाके विकल्पोंको तोड़कर, इन फंसाने वाले मायाजालोंको तोड़कर अपने आपमें गुप्त रहते हुए अपने आपमें देखूं और स्वयं सुखी होऊं।

ज्ञानमात्रमहं तस्माज्ज्ञानादन्यत्करोमि किम्।
किं त्यजानीह गृह्णीयाम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१६॥

मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं। अपने आपके स्वरूपके बारेमें मैं परखना चाहूं कि मैं कैसा हूं तो पहिले अपनेमें पायेंगे क्या ? शुद्धदृष्टि करके अपने आपके स्वरूपको देखेंगे तो कुछ विवेक उसमें है, कुछ राग है, द्वेष है, मोह है, विकल्प है, अशांति है, मौज, सुख है, दुःख है। जिसमें ये सब पाये जाते हैं वही तो जीव है, नहीं तो अभी निशान ठीक ही जमा है। यह एक अशुद्ध दशाकी दृष्टिसे विचार हुआ है। इस तरह अभी पता नहीं पड़ा कि जिससे ज्ञान होने पर अद्भुत अनुपम आनन्द प्रकट होता है और सत्य परिचय मिलता है। मैं क्या हूं ? अपने आपको ही निरखो, परमें तो मालूम होगा कि ये कुछ नहीं है। यहां कुछ अड़नेकी चीज नहीं, लेने देनेकी चीज नहीं किन्तु और गहरे चिन्तनसे परखेंगे तो यही निर्णय होगा कि मैं ज्ञानमात्र हूं, जाननमात्र हूं। यह हो गया ग्रहण। जानन सामान्य ऐसा है कि जिसमें स्वरूपके कारण अर्थ ग्रहण भी होता है, पर अर्थ ग्रहणका विकल्प प्रतीत नहीं होता। ऐसा शुद्ध जाननमात्रमें आत्मा हूं। तब फिर ज्ञानसे अन्यमें मैं करता ही क्या हूं ? प्रत्येक जगह पर कहते हैं कि यह मैं आत्मा ज्ञान परिणमनके सिवाय करता ही क्या हूं ? आत्माका असाधारण लक्षण चैतन्य है, ज्ञान है, इसमें इस चैतन्य की वृत्ति चलती है। उसके अतिरिक्त और मैं करता ही क्या हूं ? और उस ज्ञानमें भी मैं क्या करता ? केवल ज्ञानरूप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परिणमन होता है। जैसे अचेतन पदार्थोंमें हम करनेका शब्द नहीं लगाते। लगाते भी है तो समझते रहते हैं कि क्या कुछ नहीं रहा जाता है?

जैसे पूछा जाय कि इस वृक्षने क्या किया? तो इसने अपने में हरियाली करली। और हरियाली करने का अर्थ क्या है? हरेपन का परिणमन हुआ, अचेतन पदार्थोंमें करनेकी बात कम जंचती है, होनेकी बात स्पष्ट जंचती है तो यह सब पदार्थोंका ही तो नाता है। जितने पदार्थ हैं उन सबकी भी यही बात है कि वे हैं और परिणमते हैं। विभावरूप परिणमते हैं तो इसी अनुकूल निमित्त पाकर ही परिणमते हैं। परिणमन करने का अर्थ क्या? अरे कहते भी हैं।

यः परिणति स कर्ता, यः परिणामे स्वभावतः स कर्मः।

बस, परिणमन का निमित्त करना है। मैं ज्ञानमात्र हूं तो ज्ञानके अतिरिक्त मैं करता ही क्या हूं। जैसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र प्रसंगमें ये तीनों चीजें ज्ञानवृत्तिरूप परिणमती हैं। ज्ञानका जीवात्मक श्रद्धान् स्वभावसे है। सो सम्यग्दर्शन है।

ज्ञानका अर्थ है आत्मग्रहण। स्वभावका होना सम्यग्ज्ञान है और ज्ञान का रागादिकोंके स्वभावसे बने रहना सो सम्यग्चारित्र है। इसी प्रकार यह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भी इस ही ज्ञानसे सम्बन्धित बात है। ज्ञानका विपरीत श्रद्धाभावसे परिणमना सो मिथ्यादर्शन है। ज्ञान का विपरीत ज्ञानसे परिणमना मिथ्याज्ञान है और ज्ञानका रागादिकोंमें लगते हुए होना, परिणमना सो मिथ्याचारित्र है।

भेदवादका गुणभेद होता है, सो सर्वत्र यह देख लो कि उस ज्ञानके सिवाय और करता क्या हूं? घरमें बैठे हुए झुंझला गये तो वहां पर भी उसने अपने ज्ञानका परिणमन किया। कभी-कभी सभाओंमें या देशसेवाके कामोंमें या अन्य कोई प्रकारके पारिश्रमिकताओंमें कुछ सफलता पायी और वहां कुछ गौरवके साथ अपनी वृत्ति दिखाई तो उन सब साधनोंमें भी इस आत्माने क्या किया है? ज्ञानका काम किया है, विपरीत रूपसे अथवा सही रूपसे। ज्ञानसे अन्यत्रमें करता ही क्या हूं? किसीको ऐसा मान लेनेसे कि यह मेरा पुत्र है, तो क्या उसका पुत्र बन जाता है? यह मेरा घर है, इतना सोच लेनेसे क्या घर उसका हो जाता है? और यह सोच लेनेसे कि मैंने दरीको बनाया, घड़ीको बनाया, इस चौकी को बनाया, इस चौकीको जला दिया इतना सोच लेनेसे क्या सब कुछ हो गया? नहीं। क्या उस चौकीको जलाने वाला आत्मा हो गया? नहीं। क्या उन चौकी कागज तोड़ने फाड़ने वाला आत्मा हो गया? नहीं। आत्मस्वरूपको देखो। आत्मा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्या है ? कितना मात्र है ? क्या वह किसीको छू भी सकता, पकड़ भी सकता है ? यह ज्ञानमात्र है, ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानके सिवाय और करता ही क्या हूं ? फिर मैं किसको छोड़ूँ और किसको ग्रहण करूँ ? यह बहुत अन्तर मर्मको पहिचान कर आत्मस्वरूपका बोध करने वाला चिन्तन कर रहे हैं। छोड़ना क्या ? सब बाहर ही तो हैं। ग्रहण करना क्या ? क्या किसी भी तरह से परपदार्थ इसके ग्रहणमें आते हैं। यह जो विकल्प करता है, यही तो पदार्थोंका ग्रहण है। और उसे विकल्पोंको छोड़ना हो तो यही पदार्थोंका त्याग है। इसे आत्माके निज चतुष्टयको देखकर सोचना चाहिए।

कोई पदार्थ अपने स्वरूपचतुष्टयसे बाहर कुछ अपना अस्तित्व रखता है क्या ? नहीं। फिर मैं क्या छोड़ूँ और क्या ग्रहण करूँ ? अरे उन विकल्पों का त्याग करना है, जिनपदार्थोंसे हमने परपदार्थोंका ग्रहण करना माना है। उन विकल्पोंके त्यागकी आवश्यकता है। यह बात कही जा रही है बहुत अंतरदृष्टि लगाकर योगके साथ चिंतन करनेकी बात है, तब फिर सबसे उपेक्षित होकर मैं अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

संसारवाहिमूढेनासाम्यमभ्रान्तवेदिनः।
अलिप्तो हि सदा शान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–१७॥

एक मोही और एक ज्ञानी इनकी समानता क्या की जा सकती है ? नहीं। मोही संसारमें रोने वाला आत्मा है और ज्ञानी, भ्रांति रहित, सत्यस्वरूपका जानने वाला आत्मा है। इन दोनों आत्माओंकी क्या तुलना की जा सकती है ? कोई समानता क्या बतायी जा सकती है ? नहीं। बहुत अन्तर है, यह मोही जीव अपने ऊपर संसारका बोझ लादता और बढ़ाता चला जा रहा है। धन्य है वह सम्यग्ज्ञान जिसके प्रतापसे संकट दूर हो जाते हैं। वह संकट भी इन्द्रजाल है। है कुछ नहीं, कल्पनामें बसाया हुआ एक विभाव है। उसके मिटानेमें कुछ बाहरमें उद्यम नहीं किया जाता है। जैसे बाहरके कितने ही काम होते हैं ? हथौड़ी छेनी आदिसे खटपट काम किया जाता है।

एक भींतमें कपड़ा टांगनेका यदि पटिया बनाना है तो काठ लायें, ठोकें, पीटें, छेद करें, पेंच कसें, टांगने जैसा कसें, और कोई बाहरकी चीज ही मिटाना हुआ, तोड़ना, फोड़ना, मोड़ना, सुधारना ही हुआ। हथौड़ा लाये फिर उसमें खटपट किया। क्या जीवको अपने संकट मिटानेके लिए कोई बाहरी औजारोंकी आवश्यकता है ? नहीं। संकट क्या है ? एक विचार कल्पना, अशांति ही संकट है ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कुछ पुरुष सड़क पर जा रहे हैं, कुछ सेठ हैं, कुछ जानकार हैं। उन्हें दो-चार आदमी साधरणसे सामने मिले। उन्होंने राम - राम भी नहीं किया, वह सेठ भीतरसे आग बबूला हो गया। इन्होंने मुझे कैसा समझ लिया है? ये मुझे कुछ भी नहीं समझते हैं, जमाना बड़ा खराब है। सब उद्दंड बन गये हैं, ये राम - राम भी नहीं करते, ये मुझसे बात भी नहीं करते, झुकते भी नहीं हैं। सेठ बड़े संकटोंमें पड़ गया है, बड़ा बेचैन हो रहा है। उसके आकुलताएँ बन गयी हैं, संकट हो गये हैं, देखिये बात वहाँ कुछ नहीं है, पर उस सेठ पर संकट गुजर रहे हैं।

एक बात ही संभालना है। ये भी जीव हैं, स्वयं हैं, उनसे मुझे क्या होता है? वे मेरे न स्वामी हैं, न अधिकारी हैं, क्या सम्बंध है, वे घटनाको ज्ञेय नहीं बना सकते। संकट विकट आ गये। और ये संकट मिटेंगे कैसे? क्या दौड़ धूप करके इन संकटोंके सामने लगना पड़ेगा? इन संकटों को मिटानेके लिए और कुछ नहीं करना पड़ेगा, केवल अज्ञानको हटाना होगा, ज्ञान जगाना होगा, लो संकट जो थे वे मिट गये। कहाँसे संकट होते हैं कुछ जरा सोचो तो? केवल एक ही इस संकटसे इस जीव पर अनेक काँटे लगते चले जा रहे हैं अथवा किन्हीं व्यसनोंमें कुछ धन खर्च हो रहा है। इतना खर्च इसमें करना पड़ेगा, बस संकट हो गये। तो क्या संकट हो गये? कल्पनाओंमें बात आ चुकी थी कि मैं एक इज्जत वाला हूं, मैं इतने परिवार वाला हूं, और इतने पैसे वाला हूं, और इस तरहसे टोटे पड़ते जायेंगे तो लोगोंके बीच मेरी स्थिति क्या हो जायगी? इतना केवल भाव ही तो बनाया है, उसीका सारा संकट है। कैसे मिटेंगे ये संकट? इन संकटों के मिटानेका उपाय एक ज्ञान है।

मैं तो यह एक पूर्ण नग्न अंतरणसे शुद्धज्ञायकमात्र हूं जिसमें किसी भी दूसरी चीज का मेल नहीं है, केवल अपने ही स्वरूपास्तित्वमें है। ऐसा यह मैं बिल्कुल एकाकी मात्र हूं। ऐसा ही था, ऐसा ही हूं और ऐसा ही रहूंगा। जो भी दिखते हैं ये सब चले जायेंगे। जो कुछ भी व्यवहार में आता है सब इन्द्रिय जाल है, यह सब निमित्तनैमित्तिक भावोंका खेल है। इन्द्रिय जाल ही निमित्तनैमित्तिक भावको कहते हैं क्योंकि किसीके सत् की वह बात नहीं है। परके प्रसंगमें वह सब कुछ हो जाता है। किसी एक सत्में नहीं है और फिर भी होता है, वही इन्द्रजाल है। जिस जीवमें सदासे राग नहीं है, पौद्गलिक कर्मोंमें राग नहीं है, पर परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावके प्रसंगमें राग परिणति होती है। मान लेने की बात आस्रवभूत पदार्थों के साथ है।

जैसे मान लिया कि यह घर मेरा है तो घर मेरा केवल मानने भर की

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बात है। नहीं, पर घर मेरा है—इस प्रकार जो विभाव परिणमन है वह तो उसमें परिणमन है ही पर अपना प्रयोजन यह है कि इन्द्रजाल कहो, चाहे निमित्तनैमित्तिक भावों का विस्तार कहो, दोनों एक ही बातें हैं। तो यह संसारका बोझ लादने वाला मोही जीव और भ्रांतिरहित पदार्थोंके परमार्थ-स्वरूप ज्ञानी जीव इन दोनोंमें क्या समानता हो सकती है ? नहीं, इसमें तो महान् अन्तर है। एक ज्ञानी जीव अलिप्त रहता है और मोही जीव कल्पनाओंमें लिप्त रहता है। सो इस लगावमें तो चैन है नहीं और अलिप्त रहनेमें चैन है। अहो जो ज्ञानानुभूतिकी ओर ले जाय उससे बढ़कर दुनियां में कुछ वैभव नहीं है। वही मेरा सर्वस्व है, वही मेरी शरण है। सो मैं बाह्य पदार्थोंसे अलिप्त होता हुआ अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

रागद्वेषौ हि संसारो भ्रमात्तत्रोपयोजनात्।
शुद्धं शान्तं विजानीयां स्वां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–१८॥

राग और द्वेषका ही नाम संसार है। यह संसार कैसे बना ? तो भ्रम उपयोग करने से ये राग द्वेष बने। एक यह जीव ही तो भ्रम करके अपने आपके सत्य, शांतिस्वरूप स्वभावसे चिगकर क्षोभमें आता है। यह जीव जब तक अपने आपको ज्ञानघन और आनन्दमय समझ नहीं पाता, अपने स्वरूप का श्रद्धान् नहीं कर पाता तब तक यह जीव अपने आपमें नहीं टिक सकता। और जो अपने आपमें न टिक सके उसके राग और द्वेषकी तरंगे होती हैं।

मेरा संसार मेरा विभाव है। लोकमें अनेक जगह हैं, अनेक चीजें हैं, संयोग हैं। वे मेरी कैसे कहीं जा सक्ती हैं ? तो यह संसार मेरा नहीं है। मेरा संसार तो मेरा विभावपरिणाम है। बाहरमें कहीं कुछ हो तब भीतरमें कल्पनाएँ हानि सोचनेकी बन जाती है तो दुःख होता है और भीतर में हानि महसूस नहीं होती। सम्पत्तिका ही अनुभव करते और सुख मानते हैं

कोई इष्टवियोग हो तो उस समय वियोगी पुरुष कहने लगते हैं कि मेरी दुनियां लुट गयी। पर उसके तो दुनियां थी ही नहीं तब लुटी क्या ? बाह्यपदार्थ थे, यों परिणमना था तब परिणमन हो गया, पर उन बाह्यपदार्थों के सम्बन्धमें जो कल्पनाएँ बनायी थीं, विचार बनाया था, वह कल्पना अब नहीं चल पाती है। उनका आश्रयभूत पदार्थ मिट गया, अलग हो गया। सो अपनी कल्पना वैसी बन पाती तो यही कहलाता है कि दुनियां मिट गयी।

एक प्रसिद्ध चुटकुला या कहावत या कथानक है कि एक नाई बादशाह की हजामत बनानेके लिए आया। बादशाहकी हजामत बनाता जाय तो नाई लोगोंकी बिना बात किए तो बात नहीं बनती। आदत उनकी ऐसी होती है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि चारों तरफके समाचार उनसे सुनलो। तो नाई बहुत बहुत बातें करने लगा। बादशाहने नाईसे पूछा, क्यों खवास आजकल प्रजामें सुख है कि दुःख ? नाई बोला, महाराज जनतामें बड़ा आनन्द बरस रहा है। घी दूधकी नदियां बह रही हैं। बादशाह ने पूछा, तेरे घर कितना गोधन है ? बोला १०-१२ भैंस हैं, १०-१५ गाय हैं। बादशाहकी समझमें आ गया कि इसके घरमें खब घी दूध होता है तो इसे दिखता है कि प्रजा सुखी है। नाई तो चला गया। वहां राजाने मंत्रीसे कह दिया कि कुछ समयके लिए नाई पर कुछ बात लगाकर उसकी गाय भैंस गिरफ्तार करलो। ऐसा ही हो गया। अब फिर नाई हजामत बनाने आया सो बादशाह पूछता है कि खवास प्रजा में कैसा सुख दुःख है ? नाई बोला महाराज, प्रजामें बड़ा दुःख है। घी दूध का तो किसी को दर्शन ही नहीं होता।

तो जैसा अपना परिणाम है बस वही उसके लिए दुनियां है। अपना असर अपने ही उपयोगसे हो जाता है। जब चितातुर हुए तो सभी लोगोंकी दशा सम्भवतः जितना देख सकते हैं, चिंतातुर ही दिखती है। यदि कोई बड़ी विकट चिन्ता लगी है, किसी प्रकारका दुःख है तो ऐसा लगता है कि वे लोग भी बड़ी चिन्तामें पड़े हैं, सभी चिंतित लगते हैं, सभी दुःखी दिखते हैं। और कोई बड़ा खुशी हो तो जो चितातुर हैं उन पर भी यही ख्याल होता है कि ये बड़े खुशी हैं, ये बड़े आनन्दमें हैं। कभी-कभी प्रभुमुद्राको देखकर ऐसा लगता है कि आज तो भगवान् हँस रहा है और कभी उसकी मूर्तिमें ऐसा लगता है कि आज भगवान् उदास है। तो यह क्या है ? क्या वह चेहरा कल और था, आज और हो गया है ? अरे आप अगर खुश हैं तो आपका भगवान् भी प्रसन्न नजर आ रहा है और जब आप शोकातुर हों तो आपको उस भगवान्की मुद्रा भी उदास नजर आती है। तो जो राग-द्वेषका असर है वही संसार है और इस संसारकी जड़ है भ्रम, सो मैं निज शुद्ध, सहज तत्त्वको जानूँ और अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

अन्तर्बाह्यं जगत्सर्वं नश्वरं तत्र किं हितम्।
कर्तव्यमितरद्व्यर्थं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१६॥

अन्तरजगत् और बाह्यजगत्—ये सबके सब विनाशीक हैं। बाह्य जगत् तो अपने आत्मासे अतिरिक्त अन्य जितनी पर्यायें हैं वे सब बाह्य जगत् हैं और अपने आपमें जो परिणति, तरंगें होती हैं वह अंतर जगत् है सो ऐसा जगत् भी विनाशीक है और यह बाह्य जगत् भी विनाशीक है, इसमें मेरा क्या हित है ? न तो इस अंतरजगत्में हित है और न बाह्यजगत्में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हित है। जो लोग ऐसा विचार रखते हैं कि मेरी इस दुनियांमें, लोगोंमें कीर्ति सदा काल रहे, अविनाशी रहें तो ऐसा सोचने वाले विनाशीक हैं या अविनाशी ? द्रव्यकी यह बात नहीं है। यह पर्यायमें ही गुजर रहा है। तो जो ऐसा चाहता है वह विनाशीक है और जिनमें चाह है कि लोगोंमें सदा काल यश रहे, वे लोग भी विनाशीक हैं या अविनाशी ? वे भी विनाशीक हैं और जिनकी चाहकी जा रही है कि सदा काल यश रहे, वह यश भी अविनाशी है कि विनाशी और इसकी जो चाह होती है यह इच्छा भी विनाशीक है कि अविनाशी ? यह भी विनाशीक है। तो कितने मजेकी बात, गजबकी बात है कि विनाशीक, विनाशीक की चाह कर रहे हैं। अविनाशी होनेकी चाह कर रहे हैं।

यह सारा जगत् विनश्वर है। यह अन्तरजगत् विनश्वर है। कितने ही काल अब तक बीत गये, अनन्तकाल बीत गये। जिसकी अवधि नहीं उसके सामने इन १०० वर्षोंका भी कितना मूल्य है ? एक स्वयम्भू रमण समुद्रमें बहुत बड़े समुद्रमें जो करीब आधे राजूमें फैला हुआ है, इतने बड़े समुद्रमें एक बूंद तो गिनतीमें आ सकती है पर इस अनन्तकालकी समझो कि १०० वर्ष तो क्या, करोड़ सागर भी गिनतीमें नहीं आते। एक अल्पकाल भी गिनतीमें नहीं आता। तो थोड़ेसे कालके लिए अपनेको कुछ भी जाहिर कर देनेकी इच्छामें यह अमूल्य नरजीवन व्यर्थ गुजर रहा है। किसलिए आये थे ? क्या करने आये थे और क्या कर रहे हैं ? इस पर तो विचार करो। आये थे यों समझ लो आत्महितके लिए, और कर क्या रहे हैं विषय और कषाय। बड़े से भी बड़े पुरुष, राजा महाराजा बड़े अच्छे लगते हैं, सवारियोंमें बैठकर आते, चेहरा भी बड़ा साफ सुथरा रहता है। शृङ्गार भी अलौकिक अनुपम रहता है। पर ये विषयकषायोंके घर क्या स्वतंत्र हैं ? तो ऐसे विषयकषायोंके घर स्वयं संसारके लिए बने हुए हैं। उन लौकिक बड़ों को देखकर मनमें यह वाञ्छा होती कि मैं भी ऐसा ही हो जाऊं। तो इसका अर्थ यह है कि ऐसे ही अशुद्ध, ऐसे ही विषयकषायोंका घर बन ये रहनेकी चाह कि है अपने हितकी बात कुछ की।

इस जगत्में करने योग्य कार्य कुछ भी नहीं है। है तो एक यही कि बस जो जैसा है तैसा जान जावो केवल जान जावो। किसी पदार्थमें इष्ट और अनिष्ट बुद्धि न जाय सोई भाई तप है, आत्मकल्याणका उपाय है। बात मानो तो रहेंगे, न मानो तो रहेंगे, न मानो तो रहेंगे, न मानो तो रहेंगे। वे अपने हैं ही नहीं। आत्मीयताकी जो जबरदस्ती करते हैं यही दुःखका कारण बन गया है। नहीं तो क्या दुःख है ? कोई दुःख नहीं है। रंच भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दुःख नहीं होता। दुःख तो केवल कल्पना बनाने का लगा है, पदार्थ तो सब जो हैं सो पूरे हैं और अपने आपमें परिणमते रहते हैं। जो आपकी स्थिति है वही उन सबकी स्थिति है। सो यह समस्त जगत् नश्वर है। इस जगत्में कोई हित नहीं है। अन्य कर्तव्य करना व्यर्थ है सो अन्य कर्तृत्वकी कल्पनाओं को छोड़कर मैं अपने आप सुखी होऊं।

स्वतन्त्रोऽहं परास्तेषां तंत्रो, योगवियोगयोः।
कथं हृष्यामि खिन्दामि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–२०॥

मैं स्वतंत्र हूं, अपने तंत्र हूं, मेरा स्वरूपास्तित्व जो है वह मुझमें है। देखो जो अपने घरमें रह रहा है और घरकी सारी चीजें इधर उधर पड़ी हैं तो भी अपनी गद्दी पर बैठे हैं, गद्दीके आसपास चीजें भी बिखरी हैं तो भी चूंकि अपना ही सब कुछ है सो विश्रामसे रहते हैं, परवाह नहीं करते हैं, विश्वास तो है। ये देह पर भी यथा तथा पड़े हुए हैं जिस पर भी गौरव है।

इसी प्रकार अपने आपके निजी आत्मगृहमें जो बैठे हैं, देखते हैं, वहां कितनी बातें गड़बड़ भी चलती हैं; रागद्वेष कषाय, इष्ट बुद्धि, आशा, इच्छा इत्यादि अनेक गड़बड़ियां भी इसमें चल रही हैं पर अपनेको देखो त तो भी एक इस निश्चयदृष्टिसे अर्थात् अपने उपादानकी दृष्टि रखने वाले पुरुषको अव्यवस्थित होते हुए भी आकुलतायें नहीं हैं। घरमें ही तो हैं, ऐसा हो रहा है, ऐसा जान तो रहे हैं। यहां ऐसा हो रहा है। यहां कुछ परद्रव्यों में परकी परिणति नहीं है। अपना सब कुछ बुरा ही सही, पर अपने आप को देख तो रहा है। व्यवस्थित ढंगसे क्रिया चलते हुए आखिर कन्ट्रोल तो कर लिया है। अपने आपमें तो तन्मय है, यह परिणति हो गयी है। ऐसी दृष्टि वाले अपने आपमें इस ही एकत्वकी पद्धतिके प्रतापसे इन वाञ्छाओंसे दूर हो सकता है।

मैं स्वतन्त्र हूं, अपने आपके आधीन हूं और परपदार्थ उनके ही आधीन हैं, उनका संयोग उनका वियोग हर स्थितिमें उनका उनमें होता है फिर किसी भी प्रसंगमें मैं हर्ष क्या करूँ, किसीमें खेद क्या करूँ? संयोग में तो जीव हर्ष मानता है और वियोगमें जीव खेद मानता है। पर जैसे रात्रिको कोई भय या कल्पना या उपद्रव या कोई मानसिक क्लेश है तो यह दृष्टि है कि यह रोगी गुजर जायगा, मिट जायगा। प्रातः हो गया तो ऐसी प्रतीति वाले को यह धैर्य रहता है कि लो रात गयी प्रातः हुआ है। जैसे जिन्होंने रात्रिमें पानी छोड़ रखा है, प्यास लगी है पर यह जानते हैं कि अभी ४–६ घंटेमें सबेरा तो होगा ही। सबेरा होगा, तब पानी पी लेंगे।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सवेरा हो गया। ऐसी उपेक्षामें वह रात्रिका समय निकाल देता है। प्रातः होने वाला है। वह अपने दुःखकी वेदना नहीं करता है। इसी प्रकार कितना वियोग हो गया, कितना उपद्रव हो गया तो वह जानता है कि संसारमें दुःखके बाद सुख आता है और सुखके बाद दुःख आता है।

ऐसा कौन इन्द्रिय सुख है जिसके बाद दुःख न आता हो? सब बैठे हैं, शृंगारसे बैठे हैं, ढंगसे बैठे हैं, मुद्रा तो ऐसी बनी है कि इनको दुःख का कोई काम ही नहीं है। सजे सजाये बैठे हैं, पर सभी जानते हैं कि दिन का जितना अवसर है उसमें अधिक अवसर दुःख मानने का है और थोड़ा अवसर सुख मानने का है। पर सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख लगा है। इसी प्रकार इन सबमें ऐसा दुःख भी कोई नहीं है कि पूरे दिन लगातार दुःख ही दुःख रहता हो। दुःख निरंतर दिनभर रह ही नहीं सकता है। दुःख के बाद सुख लगा है और सुखके बाद दुःख लगा है। तो जिस समय यह जीव सुखमें है उस समय यह जानता है कि इसके बाद दुःख आयगा तो वह सुखमें मौज कैसे मानले? दुःख है तो यह बात मनमें है कि यह तो मिटने वाला है, इसके बाद सुख आयगा दिन अच्छे आयेंगे तो वह दुःखमें धैर्य रखता है, तब हर्ष करने कि चीज कुछ नहीं रही और खेद करने की चीज कुछ नहीं रही।

विशिष्ट ज्ञानी तो वह है कि जो इसका ज्ञाता रहता है, इसमें हर्ष और क्लेश नहीं मानता। मैं अपने तन्त्र हूं, बाकी परपदार्थ वे उनके ही आधीन हैं, फिर मैं किसमें हर्ष करूँ और किसमें खेद करूँ? मैं तो अपने में अपने लिए, अपने आप रहकर, समझकर स्वयं सुखी होऊँ।

ज्ञानेन ज्ञानमात्रोऽहं भवाम्यन्यगुणानपि।
साक्षात्कर्तुः कुतः क्षोभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२१॥

मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानके अतिरिक्त आत्मामें और कोई स्वरूप नहीं है। सो यह ज्ञानके द्वारा अपने सभी गुणों को जाना करे तो इसमें कोई क्षोभ नहीं होता। आत्माका काम तो केवल जानना है, राग द्वेष करना नहीं है। जो रागद्वेष करते हैं वह इनकी भूल है। आनन्द तो इस जीवमें स्वयं मौजूद है, पर बाहरी पदार्थोंमें अपना एकत्व मानने के कारण इन्हें क्षोभ होना है। आत्माके बाहर सब कुछ पर है। किसीसे कुछ सम्बंध नहीं है। पर सम्बंध मानते हैं और दुःखी होते हैं। अपने घरके दो चार बाल बच्चोंके लिए धन कमाना, परिश्रम करना, सारी परेशानियां इसे होती हैं और हैं, वे सब परचीजें, भिन्न चीजें हैं। जैसे जगतके और सब जीव हैं वैसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही घरमें बसने वाले जीव हैं। कुछ भी फर्क नहीं है मगर जीव उनको मानने लगता है कि ये मेरे हैं बस इस रोगसे सब दुःखी हैं। इनको ऐसा ज्ञान जगे कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं और जो कुछ भी है वे सब मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं और वे अपना साथ नहीं देते। मृत्यु हो जायगी तो लोग इसको जला देते हैं।

औरकी बातें जाने दो, जो वड़े बड़े आचार्य थे उनकी भी तो मृत्यु हो गयी तो उनके शरीरको भी कोई रखता है कि क्या ? नहीं। पहिले उनकी पूजा होती थी, पैर पुजते थे, पर मृत्यु हो जानेके बाद शरीरकी भी वही हालत कर दी गयी जो हम आप लोगोंकी की जाती है। उन आचार्योंके शरीरको चंदनसे जला दिया गया। तो चंदनसे जलाएँ चाहे लकड़ीसे, कुछ अन्तर नहीं है। यह तो लोगोंकी भक्ति है कि बड़े पुरुषोंके शरीरको लोग चंदनसे जलाते हैं।

जितना यह क्षोभ है वह बाहरी पदार्थोंमें ममता करने का क्षोभ है, नहीं तो क्षोभका कुछ काम नहीं है। ऐसी भावना होना चाहिए कि मैं तो सबका ज्ञाता मात्र रहूं, किसी पदार्थमें मेरा राग न पहुंचे– वही साधक है। गृहस्थीमें रहते हुए भी यदि वैरागी रह सके तो उसका जीवन सफल है और वैरागी न रह सका तो, मोहांध हो जायगा तो इसका जीवन बेकार है। मनुष्यजीवन पाया और न पाया उससे कुछ हित नहीं निकलता, सो ममता का त्याग हो और अपने आपसे अपने हितके लिए अपनेको सुखी बनाओ दूसरोंसे सुखकी भीख न मांगो। कोई दूसरा जीव सुखी नहीं बना सकता। कल्पनाएं करते हैं और मौज मानते हैं। कोई भी तो किसीको सुख देनेमें समर्थ नहीं है। खुदकी आत्मा निर्मल हो तो सुख हो सकता है और सुखका कोई उपाय नहीं है।

ज्ञानस्य चेष्टयाऽचेष्टोऽचेष्टीभूतः कृती स्वयम्।
अचेष्टनं द्वयोः सारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२२॥

हम चेष्टाएँ तो बहुत करते हैं पर विकल्पोंकी चेष्टाएँ करते हैं। यदि ज्ञानकी चेष्टाएँ करें तो सब चेष्टाएँ समाप्त हो जावेंगी। मैं केवल जाननहार हूं और जानन ही हमारा नाम है। इस प्रकार जाननरूपमें ही अपने उपयोग को रखकर ज्ञानकी चेष्टाके कारण बाकी सब कुछ चेष्टाएँ छूट जावेंगी। सो चाहे ज्ञानकी चेष्टाएँ कहो, चाहे कृतकृत्यका भाव कहो, एक ही बात है। मैं केवल जाननहार रहूं।

ज्ञानीके मायने हैं कि उसे दुनियामें अब कोई काम नहीं करना है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जिसे दुनियामें काम करने की धुन लगी होगी उसे शांति नहीं मिल सकती है। क्या करना है ? करने को कुछ भी है क्या ? विचार करो, कुछ सामर्थ्य भी हो तो बात बन सकेगी। संसारके संयोगमें, वियोगमें रंच भी अधिकार नहीं। होना है तो होता है और यदि नहीं होना है तो नहीं होता है। ऐसा अपने आपमें अनुभव करना चाहिए कि मेरा करने का दुनियामें कोई काम नहीं पड़ा है क्योंकि मैं दुनियाके पदार्थोंमें कुछ काम कर भी नहीं सकता। सबकी न्यारी न्यारी सत्ता है। किसमें क्या करना है ? अपने आप में सदा ऐसा विश्वास रखो कि जो प्रभुका स्वरूप है सो मेरी आत्माका स्वरूप है। प्रभुका स्वरूप तो व्यक्त हो गया है, ज्ञानानन्दमय है, ज्ञानमय है, और मेरा स्वरूप जो है वह तिरोहित है।

सो जैसा द्रव्य प्रभुका है वैसा ही द्रव्य अपना है। अपनेमें और प्रभुके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है, सो ऐसे ज्ञानका भाव यदि बन सकता है तो जीवनकी सफलता है। नहीं तो देखो सभी जी रहे हैं, जीते जाओ, पर मरण तो होगा ही। क्या मरण न होगा ? होगा। ५० वर्ष जी लो, ६० वर्ष जी लो, मरने के बाद क्या साथ ले जावोगे सो बतला दो ? तो फिर जब तक जिन्दा हैं तब तक अपने दिलसे हटाए रहो। ऐसी बात तो सोचते रहो कि मेरा दुनियामें कुछ नहीं है। जो भी जीव सुखी हो सकेंगे वे अपने भावोंसे सुखी हो सकेंगे। इस जगतमें मेरी कुछ चीज नहीं है। जो यह मान गये कि इस दुनियामें मेरा कुछ नहीं है तो वह उनके हाथ नहीं आयगा और जो समझो कि मेरा कुछ नहीं है तो एकदम उसके भीतर ज्ञान और आनन्द का विकास हो जायगा।

जगतके जीव एक ही तरहके रोगी हैं, ममताके। प्रत्येक जीवमें ममता पायी जाती है। पशुओंमें देखो तो भी अपनी ममता लगाए हैं। घोड़ीको देखो तो वह भी अपने बछड़े को देखकर हिनहिनाती है। यदि वह घोड़ी और पर्यायमें होती तो उसका उस बछड़ेके साथ क्या सम्बन्ध था ? आज आप मनुष्यके पर्याय हैं, यदि आप और किसी पर्यायमें आप होते तो इस विभूतिसे क्या कुछ सम्बन्ध था ? कुछ भी तो सम्बन्ध न था। यदि इस ममता डायन को दूर करोगे तो भगवान् की भक्ति हुई, नहीं तो भगवान्की भक्ति नहीं हुई।

इस तृष्णासे रात दिन व्याकुल होते चले जा रहे हैं। सबके तृष्णाका ही परिणाम लगा है। इतना धन और हो जाय। अरे कितना धन और हो जाय ? दुनियामें जितना वैभव है मान लो कि मेरा है। जितना धन वैभव तुम्हारे घरमें है उसको तो माना कि मेरा है तो और भी संसारमें जितना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

धन वैभव है उसे भी मानलो कि मेरा है। जितनी चीजें हैं सब भिन्न हैं। कल्पनाएँ ही करके मान लिया कि वह मेरा है। सबकी केवल कल्पनाओं की ही बातें चलतीं, और कुछ बातें हो ही नहीं सकतीं हैं। कल्पना करके सारी दुनियाके वैभव को मान लो कि मेरा है।

कन्जूस आत्माका धन पत्थरके ही समान है। कन्जूसने धनको गाड़ दिया और मान रहा है कि यह मेरा है, इसी तरहसे तुम संसारके वैभव को कल्पना करके मानलो कि मेरा है तो तुम और कंजूस बराबर हो गए। कंजूस खर्च नहीं करता और तुम उस काल्पनिक धनको खर्च करोगे ही क्या? तो तुम दोनों बराबर हो गए। सारी वस्तुएँ नाशवान् हैं। जितना भी सदुपयोग दूसरों के उपकारमें बने उतना कर लो। और यदि सदुपयोग नहीं करते तो सारी चीजें मिटेंगी ही, सारी चीजें तो जावेंगी ही। व्यर्थमें पाप और बांध लिया।

सो भगवान् की भक्तिका तो यही प्रयोजन है कि हम अपने ज्ञानानन्द में लीन हो सकें जिससे फिर किसी भी प्रकार की आपत्ति न सताए। सो ज्ञानरूप रहना, किसी पदार्थमें भी न फँसना और न बोलना यही सबका सार है।

ध्याने स्तुतौ च यात्रायां मनोवाक्कायखेदनम्।
निर्विकल्पे कुतः खेदः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–२३॥

देखो अपना जो स्वरूप है उस स्वरूपमें तो रंच भी खेद नहीं। अपने स्वरूपसे अलग होते हैं और बाहरी बाहरी बातोंमें पड़ते हैं तो खेद है। अभी घरमें अगर देवरानी जेठानीका झगड़ा हो जाय तो चैन है क्या? नहीं। व्यर्थकी लड़ाई है। सब जुदा-जुदा अपना-अपना सत् लिए हैं। रंच भी सम्बन्ध नहीं है। यह बना लिया कि यह मेरा है। इसने ज्यादा पहिचान लिया। अरे जिसने ज्यादा पहिचान लिया वह मरने पर क्या साथमें चला जायगा? वह साथमें नहीं जा सकता है। आखिरकार छोड़ने ही पड़ेंगे।

सो जितना भी खेद है सब बाह्यपदार्थोंसे खेद है और की बात ही क्या, अगर ध्यान करने बैठे हैं तो उस समय भी मनको खिन्न करना पड़ता है। उससे भी ध्यान हटाओ। अपने आपके ध्यानमें लगो तो ध्यान करनेमें भी खेद नहीं होता है। अपना धर्म है ज्ञायकस्वरूप निजतत्त्व देखना, विकल्पों से छूटना, निर्विकल्प रहना। यही असली चीज है, सारे जगत्का काम करनेमें आपत्ति है, मगर अपना काम करने में अपनेको कोई आपत्ति नहीं है। अपना काम है ज्ञाता द्रष्टा रहना। ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें रागद्वेष नहीं होंगे। मगर इस जीवमें तो ऐसे कुटेव लगे हैं कि उसे अपना वश चाहे नाक बहती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो सबसे प्यारा लगता है और दूसरेका कितना ही सुन्दर बच्चा हो प्यारा नहीं लगता है।

एक नौकरानी ने किसी सेठके यहां नौकरीकी। सेठानीने नौकरानीसे कहा कि स्कूल जावो, स्कूलमें जो मेरा बच्चा पढ़ता है उसे खाने को दे आवो। नौकरानी ने कहा कि मैं तो तुम्हारे बच्चेको पहिचानती नहीं। बोली अरे मेरे बच्चेको क्या पहिचानना? स्कूलमें जो सबसे अच्छा बच्चा मिल जावे वही मेरा बच्चा है। सेठानी अपने बच्चोंको ही सबसे अच्छा बच्चा समझती थी। सेठानीको यह गर्व था कि मेरा जैसा सुन्दर बच्चा और दूसरा नहीं है। नौकरानीका भी बच्चा उसी स्कूलमें पढ़ता था। उसे अपना बच्चा ही सबसे ज्यादा सुहाता था। नौकरानीने भोजनके डिब्बेसे भोजन निकालकर अपने ही बच्चे को दे दिया। भोजन उस बच्चेको देकर वह नौकरानी चली आयी। जब छुट्टी पानेके बादमें सेठानी का बच्चा आया तो बोला मां जी आज आपने मुझे खानेको कुछ नहीं भेजा था? मां ने कहा कि भेजा तो था। उसके कहा, नहीं भेजा। अब उस सेठानी ने नौकरानी को बुलाया उस सेठानी ने कहा कि तूने मेरे बच्चेको आज भोजन नहीं दिया था क्या? कहा, दिया तो था। उस नौकरानीने कहा कि मैंने दे तो दिया था। तुमने ही तो कहा था कि स्कूलमें जो सबसे अच्छा बच्चा तुझे दीखे वही मेरा बच्चा है उसे ही तू भोजन दे देना। यही मेरा बच्चा मुझे अधिक सुहा गया, इसलिए मैंने उसे ही भोजन दे दिया।

सो सबको अपना बच्चा प्यारा होता है। सूवरसे कहो कि मेरा बच्चा तो कितना अच्छा है, तू इससे प्यार कर ले तो प्यार नहीं कर सकता है।

सो यह व्यर्थका भ्रम है। ध्यानमें, स्तुतिमें, भजनमें निर्विकल्प अपना ध्यान लगे तो वहां खेद नहीं होता। सो अपने आत्माके स्वरूपको ही सोचकर, उसमें ही तृप्त होकर मैं अपनेमें अपने लिए, अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

विरक्तो विषयद्वेषी रक्तोऽस्ति विषयस्पृहः।
साक्षी रक्तो विरक्तो न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥६-२४॥

अब विरक्त कौन है? जो विषयोंसे हटा हो, राग द्वेषसे हो। कभी-कभी कह देते हैं ना कि स्त्री पुत्र ये सभी नर्ककी खान हैं। तो स्त्री पुत्र नर्ककी खान हैं कैसे? अरे खुदका परिणाम बिगड़ा हुआ हो तो वही नर्ककी खान है। जिसने विषय कषायों द्वेष से अपने को रहित किया वह तो विरक्त कहलाया। अगर जो साक्षी पुरुष है, ज्ञाता पुरुष है वह न रागी होता है और न वैरागी होता है, वह तो जानन देखनहार रहता है। सो बातों का

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सार यही है कि अगर ममता नहीं रहती है तो आनन्द पावोगे और अगर ममता रखी गयी तो आनन्दकी स्थापना नहीं है। ज्ञाता द्रष्टा रहूं और अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

किन्हीं बाह्यपदार्थोंमें सुख होगा क्या? जैसे इस घड़ीमें सुख गुण है क्या? इस घड़ीमें सुख हो अथवा यह घड़ी सुख पैदा कर सके तो ऐसा नहीं है। ये जो घर के लोग हैं उनसे सुख है क्या? उनसे सुख है, मगर उनका सुख उनके लिए ही है। सुख उनसे निकलकर दूसरेमें आवे ऐसा नहीं हो सकता है। किसी परद्रव्यमें कोई लाभ या हानि की बात नहीं आ सकती। कुछ ही कल्पनाएं करो और दुःखी हो लो। सुख, दुःख तो अपने ही ऊपर निर्भर हैं, किसी अन्य पर निर्भर नहीं हैं। जो विषयोंसे दूर रहना चाहता है वही विरक्त कहलाता है। उसे विषयोंसे द्वेषबुद्धि होती है। जिसे विषयोंसे हटना है और जो विषयोंसे रहित रहना चाहते हैं उनकी रागरहित बुद्धि है, वे रागमें नहीं लगते हैं।

ये सब ज्ञानी पुरुष जानता है कि जो विषयसे, द्वेषसे रहित है वह विरक्त है। जो विषयोंसे लोभोंसे रहित है वह ज्ञाता कहलाता है, वह जाननहार है। रागी हो तो, विरागी हो तो वह जाननहार नहीं रहता है। लाखों का धन भी खर्च हो जाय फिर भी यह समझो कि मेरी कुछ हानि नहीं हुई अथवा यदि लाखों का धन मिल जाय, फिर भी यह विश्वास रहे कि मैंने कुछ नहीं पा लिया। केवल एक आत्माकी बात न मिली, बाहर ही बाहर भटकता रहे तो इसे कुछ लाभ न मिलेगा। इसलिए हर उपायसे आत्मज्ञान बनाऊं और ममताको दूर करके रहूं तो शांति मिल सकती है अन्यथा सुखके स्वप्न देखना केवल कल्पना है।

सुखं दुःखं स्तुतिं निन्दां कस्य कर्तुं हि कः क्षमः।
किं श्रमं स्वच्युतेः कुर्याम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२५॥

किसी को सुखी कोई दूसरा नहीं कर सकता है, न दुःखी कोई दूसरा कर सकता है। स्तुति भी कोई किसी की नहीं करता, प्रशंसा कोई किसीकी नहीं करता। खुदका जैसा भाव होता है वैसी ही वह अपनी चेष्टाएं करता है। कोई किसीकी निन्दा भी नहीं किया करता, जिसका जैसा अपना कषाय परिणाम है उसके अनुसार ही अपनी चेष्टाएं करता है। फिर जब यह देख रहे हैं कि इसमें कोई प्राणी किसी दूसरेका कुछ नहीं करता, सब अपने अपने कमाये हुए कर्मोंके अनुसार इस लोकमें सुख और दुःख भोगते हैं। इस लोकमें प्रत्येक जीव अकेला ही है और जो कुछ भी इन जीवोंपर बीतता है सुख हो या दुःख, वह अकेलेपर ही बीतता है। इस कारण अपने आपपर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दया करना, अपना धर्म करना– यह सबसे आवश्यक चीज है। आजीविका और लौकिक बातोंकी अपेक्षा भी आत्मधर्म का सबसे अधिक महत्व है, क्योंकि यहां के दिखने वाली सम्पदा और कीर्ति, सम्मान ये सब मायारूप चीजें हैं। इनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। न आत्माके साथ ये सब आते हैं और न आत्माके साथ ये सब जायेंगे। ये सब तो यों ही मिले हैं और यों ही छूट जायेंगे।

आत्माको शांति केवल ज्ञानसे प्राप्त होती है। सुख ज्ञान परी ही निर्भर है, सुख कायकी चेष्टा पर निर्भर नहीं है। सुख धन से नहीं प्राप्त होता है। कोई करोड़पति भी है, धनिकों में सम्मान के योग्य भी है तो भ अशांत पाया जाता है क्योंकि वह अपने ज्ञानका अनुभव अपनेमें नहीं कर पाता कि मैं सबसे न्यारा हूं, केवल ज्ञानमात्र हूं, जाननके स्वरूपके अतिरिक्त मेरा और स्वरूप नहीं है। जब तक यह विश्वास न हो तब तक जीव शांति नहीं पा सकता। बाहरी बातों में लगकर, परपदार्थों से दुःख मानकर कभी आकुशलताएं मिट नहीं सकतीं।

सभी जीव इस मोहके रोगी हैं, और मोहमें जो कष्ट होता है उस कष्टको दूर करने का उपाय भी यही है कि उस मोहको अपने से अलग करना है। जैसे कीचड़में पड़ा हुआ कपड़ा कीचड़से साफ नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोहसे होने वाले दुःख मोहसे कभी दूर नहीं हो सकते। यह जीवन कितना है ? कुछ वर्षोंका। कुछ वर्षों का जीवन मिल गया और मोह किया जा रहा है, तब आखिर इसका फल क्या हाथ लगेगा ? इस पर कुछ भी गम्भीरतासे प्रत्येक मनुष्य विचार नहीं करता है और वर्तमान जो मौज है, विषयका आनंद है, इसको ही सब कुछ समझते हैं। समझें, मगर विषयों के भोगोंके कालमें भी और मोहकी मौज मानने के कालमें भी यह जीव सुखी नहीं रहता है। आकुलताएँ तब भी मची हुई हैं, आकुलताएँ मिटने का सम्बन्ध तो ज्ञान से है, भोगके साधन मिलने से नहीं।

मनमें यह निर्णय करना चाहिये कि शांतिका सम्बन्ध ज्ञानसे है भोगके साधनों से नहीं है। दो मकान बन जायेंगे तब शांति आ जायगी, दूकान हो जायगी तब मौज हो जायगी, यह सोचना केवल स्वप्न जैसी बात है, शेखचिल्ली जैसी बात है। दो मकान नहीं, दस मकान हो जायें तो भी चैन नहीं आ सकती है। जिनके ५० मकान हैं उनको भी देख लो चैन नहीं आता है। आनन्दका सम्बन्ध ज्ञानसे है परिग्रहसे नहीं है। ऐसे आनन्द की जिनको चाह है, मुक्तिकी जिनको चाह है, कर्मोंसे छूटने के जिनके भाव हैं, ज्ञान उपयोग में जिनको लगना है, उन्हें परिग्रहको तो बिल्कुल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

छोड़ देना चाहिए। उदय अनुकूल होगा तो स्वयं ही वैसा भाव सामने आयगा। उदय अनुकूल नहीं है तो करोड़ों यत्न करो तो भी वैभव प्राप्त नहीं होता, उसमें हमारे विचारों की गति नहीं है। विचारों का असर तो सबको छोड़ने से ही चल सकता है, संसारके कार्यों से नहीं। इसलिए इन बाह्य विभूतियों का चित्तमें आदर न करो।

बड़ी कठिनतासे यह नरजन्म पाया है, उत्कृष्ट कुल पाया है, धर्म पाया है, इस उत्कृष्ट रत्न को केवल परिग्रह की तृष्णाओं में गँवा दें तो यह बुद्धिमानी नहीं है। तृष्णाओं से दूर रहना चाहिए। इस परिग्रहको कहते हैं - पिशाच। जो कुछ थोड़ा बहुत संतोष है वह संतोष भी परिग्रहकी बुद्धि में नहीं रह पाता।

एक छोटासा कथानक है कि एक संन्यासी को रास्ते में पड़ा हुआ एक पैसा मिल गया। उसने सोचा कि यह पैसा किसको दिया जाय। सोचा कि जो महागरीब हो उसको ही देना चाहिए। वह साधु गरीब की तलाश में निकला तो महागरीब न मिला। एक बार नगर का बादशाह दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था। बादशाह हाथी पर बैठा था। सन्यासी ने वह पैसा उसकी जेब में फेंक दिया। राजा कहता है कि यह पैसा क्यों फेंका? साधु बोला कि यह पैसा मुझे मिला था सो सोचा था कि हम महागरीब को यह पैसा देंगे। मुझे तो आपसे गरीब कोई नहीं नजर आया। सो आप को यह पैसा दे दिया। बादशाहने कहा कि मैं गरीब कैसे? मेरे पास नगर है, बहुतसा वैभव है, मैं गरीब कैसे? साधु बोला, महाराज आप यदि गरीब नहीं हो तो एक छोटे से राजा पर चढ़ाई क्यों करने जाते हो? आप के पास कुछ नहीं है इसलिए दूसरे का धन हड़पने जा रहे हो। आपसे बढ़ कर गरीब कोई नहीं है। अब तो उस राजा को ज्ञान हुआ। उस साधु ने राजा को अमीर बना दिया। राजा उसी जगह से अपनी सेना लेकर वापिस लौट गया।

अरे भैया! जितना वैभव है उसका यदि पौना वैभव होता तो क्या गुजारा अच्छी तरह से नहीं चलता? अरे जो है वह बहुत है और नहीं है तो क्या करोगे? जबरदस्ती सम्पदा को आकाश से खींचा नहीं जा सकता। इस जीवनमें यदि परिग्रह ही परिग्रह किया तो क्या किया? इस जीवनका ध्येय तो धर्मका पालन है। सात्विक वृत्तिके अनुसार गुजारा चलता रहे। करने का काम तो धर्मका पालन है। यदि वस्तुस्वरूप का ज्ञान करो, मोह ममता को अपने से हटाओ, अपने आपकी पवित्रता बढ़ाओ और अपना जीवन सफल करो, तब तो इस नरजीवन से लाभ है, नहीं तो यह नर-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवन पाने से कोई लाभ न होगा।

सम्पदाका कमाना यह नरजीवन का उद्देश्य नहीं है। स्तवनमें तो पढ़ते हो, 'आत्मके हित विषय कषाय। उनमें मेरी परिणति न जाय।' और भावनामें परपदार्थोंकी ध्वनि बनी रहे तो इसे दर्शन करना कहेंगे क्या? अपनी दयाका भाव जब तक न आये, अपनमें बसे हुए प्रभुस्वरूपके जब तक दर्शन न हों तब तक क्या एक क्षण को भी यह मनुष्यभव पाना सफल कहा जा सकता है? नहीं। सो बहुत गम्भीरतासे विचार करो और परिग्रह की ममताको छोड़कर उसमें ममत्व बुद्धि न रखकर अपने कर्तव्यको निभाये बिना मुक्तिका मार्ग नहीं प्राप्त हो सकता है।

सुखे दुःखे च को भेदो द्वयोराकुल्यवेदनम्।
शान्ते ज्ञे स्वे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६--२६॥

सुख और दुःखमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही स्थितियों में आकुलताओं का अनुभव होता है। सुख कहते हैं इन्द्रियोंको जो विषय सुहावना लगे। सुहावना लगनेकी स्थितिमें आकुलताएं होती ही हैं। यदि आकुलताएं न हों तो इन्द्रियोंके विषयमें प्रवृत्ति ही क्यों करें? इन्द्रियोंके विषयमें जीव तभी प्रवृत्ति करता है जब उसे कोई दुःख हो। जिसे फोड़ा फुंसी नहीं है वह मलहमपट्टी ही क्यों लगायेगा? इसी तरह किसी प्रकारकी अशांति नहीं है तो वह इन्द्रियके विषयोंमें क्यों लगेगा? जो जीव विषयोंमें हैं उनको आकुलताएं ही हैं अथवा विषयोंसे उनका आदर नहीं होता। तो उस सुखमें आकुलताएं ही पायी जाती हैं और दुःखमें भी आकुलताएं पायी जाती हैं। इस कारण सुख और दुःख दोनों की कल्पनाओं को छोड़। न तो सुख की चाह करनेका मुझे सुख हो और न दुःखसे भयभीत होऊँ। दुनियामें दुःख कहीं नहीं है, दुःख मात्र अपनी कल्पनाओंमें हैं। सब कुछ सम्पन्न होते हुए भी यदि एक कल्पना बना ली कि मेरी कुछ शान नहीं है, मेरी कुछ इज्जत नहीं है, लोग मेरा कुछ कहना नहीं मानते तो इससे क्लेश ही प्राप्त होंगे।

इस संसारमें प्रीति करने लायक कोई चीज नहीं है। इसमें सर्वत्र आधीनता ही आधीनता भरी हुई है। बहुतसे पदार्थोंका संयोग जुटाया तब सुख प्राप्त होता है। तो यह सुख स्वाधीन नहीं है। जिस सुखमें पराधीनता हो, जो सुख होकर दूसरे समयमें नष्ट हो जाता हो, ऐसे संसारके सुखका क्या आदर करना? यह सुख आदरके योग्य नहीं है। तो मैं अपने शांतस्वभाव पर ही दृष्टि दूं और उसमें ही लीन होकर, अपनेमें अपने आप सुखी होऊं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस जीवने अपने जीवनमें कुछ पाने का यत्न नहीं किया, पर जितना ही ये जीव यत्न करते रहे उतना ही फंसते रहे। इस लोकमें सुख कहीं नहीं है। और जिसने लौकिक सुखको सुख माना है तो वह सुख तो राईके बराबर है और दुःख है पर्वतके बराबर। और राई के बराबर भी सुख सही किन्तु इस सुख में भी तो विह्वलता कितनी है और वह सुख भी नष्ट हो जाने वाला है। ऐसे सुखका आदर करना व्यर्थ है। यह चीज मेरी नहीं है। मेरा स्वरूप तो शांत है, शुद्ध ज्ञानमय है, आत्मा का लक्षण एक ही तो है। यदि आत्माका हम परिचय पा सकते हैं तो इस रूपसे जाना करें कि यह मैं आत्मा केवल जाननमात्र हूं। जाननस्वरूप के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं हूं और जाननस्वरूप के अलावा कुछ मेरा है नहीं- ऐसी दृढ़ भावना बनें तो इस जीवको अपने स्वरूपका परिचय मिलेगा।

यह जितना विवाद जीवन में होता है। भाई-भाई में भी परस्पर विवाद हो जाता है, ये सब विवाद विषय सुख की दृष्टि से होते हैं। विषयों में सुख माना तो उस सुख की पूर्ति परिग्रहसे हुआ करती है। जब परिग्रह में दृष्टि फँसी तो परिग्रह तो अपने आधीन है नहीं। परवस्तु है उस पर-वस्तु के पीछे अनेक प्रकारके विवाद हो जाते हैं। प्रीति, वा सत्य, दया सब कुछ हृदय से विदा हो जाते हैं। एक परिग्रह की तृष्णामें फँसे तो इस आत्माको क्लेश ही है। मैं आत्मा तो केवल ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा तो मेरे ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि इसे ऐसा बोध हो तो आकुलताएँ नहीं होतीं।

कितना अज्ञान इन जीवोंके छाया है कि इनको अपने मार्गका पता ही नहीं पड़ता। मैं कुछ परमार्थभूत सत हूं इसका उसे अन्दाज ही नहीं होता। जो शरीर मिला है उस शरीरको यह आत्मा सर्वस्व समझता है। जब इस शरीरको ही मान लिया कि यह मैं आत्मा हूं तो दूसरों के शरीरको मान लिया कि यह दूसरी आत्मा है। फिर शरीरके पोषण में विषयों की पुष्टि हुई। उनमें यह अपनी रिश्तेदारी मानता है। और इस प्रकार इस जगत में अपना सम्बन्ध बनाता है और अपना जीवन समाप्त कर देता है। इसके साथ रहता कुछ नहीं।

भाई इस सुख और दुःखसे संसारमें बंधन होकर इन दोनों में ही प्रीति न करो और सबसे निराले अपने आत्मा की उपासना यही है कि अपनेको सबसे न्यारा मानते रहो। मैं सबसे पृथक् हूं ज्ञानमात्र हूं यह भावना जितनी दृढ़ बन गयी उतना ज्ञान बढ़ेगा, कर्मों का क्षय होगा, आनन्द और सत्य शांति का मार्ग मिलेगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्म करनेके लिए प्रधान बात यह है कि अपनेको सबसे निराला समझो, किसीसे मेरा सम्बन्ध नहीं। यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा अकेला ही जन्मता हूं, अकेला ही मरता हूं, अकेला ही सुख दुःख भोगता हूं, इसके साथ किसीका भी रंच सम्बन्ध नहीं है। यदि अपने आपको विरक्त देखलो तो गृहस्थी में रहकर भी आप धर्मका पालन करते हैं। यदि परिवार पुत्र आदिकमें यह मेरा है, ऐसी ममता बनी हुई है तो आप धर्मके नाम पर चाहे कितना ही श्रम कर डालें बड़े बड़े विधान पूजन यज्ञ आदि कितने ही कर डालें पर ममता तो जब तक हृदय से न उतरेगी तब तक धर्म न मिलेगा। धर्म तो आत्माका निर्मल परिणाम है। जहां राग न हो, द्वेष न हो, क्षोभ न हो, जहां शांत ज्ञानानन्दमय आत्माका जो परिणाम है उसको कहते हैं धर्म। जिसके ममता का रंग चढ़ा हुआ है ऐसे हृदय में धर्म का निवास हो जाय यह बात त्रिकाल असम्भव है। धर्म करनेका तो सबसे बड़ा काम है कि ममताको छोड़ो। घर छोड़नेकी बात नहीं कही जा रही है, किन्तु ममता छोड़ो। ममता छोड़नेका उपाय शुद्ध ज्ञान है। यदि सम्यग्ज्ञान है तो ममता छूट सकती है। यदि सम्यग्ज्ञान नहीं है तो ममता कभी भी छूट नहीं सकती। इस लिए धर्म पालनके लिए पहिला काम है कि ज्ञान का अर्जन करो।

नृस्त्र्योः रूपे कुरूपे वा को भेदोऽशुचिना समा।
आकुल्यकारणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ६-२७॥

इस जीव को सबसे अधिक मोह शरीरका है। कितनी ही धर्मचर्चा हो जाय, तपस्या हो जाय, अनेक भेदविज्ञानोंकी बातें कर डाली जायें, जब भी बुखार होता है, सिर दर्द होता है तो सब भूलकर अपने शरीरकी ओर ही दृष्टि देते हैं।

कोई भी बुढ़िया हो, बूढ़ी बहुत हो और रोज-रोज भगवानसे यह यह प्रार्थना करे कि हे भगवान्। मुझे दुःख है, मुझे उठा ले। मेरा मरण हो जाय—ऐसा सुबह साम भगवानसे विनती करने वाली पुरानी डुकरिया भी जब पास में उसके सांप दिख जाता है तो वह चिल्ला करके अपने पोतों को पुकारती है कि बेटा दौड़ो मुझे सांप खानेके लिए आया है और वे पोते यदि यह कह दें कि दादी तू तो रोज-रोज सुबह शाम भगवानसे प्रार्थना करती थी कि मुझे उठाले तो तेरी बातोंको भगवानने सुन लिया है, वह तुझे उठाने आया है। वह बुढ़िया शरीरके मोहसे अपनी जान बचाना चाहती है। इतना विकट मोह होता है।

इस शरीरकी जरा कथा भी तो देखो। चाहे मनुष्य का शरीर हो

Version 1

स्त्रीका शरीर हो, सुन्दर रंगका शरीर हो, कुरूप शरीर हो सब शरीर आखिर हड्डी, मांस, मज्जा, खून, मलमूत्र आदिसे भरा हुआ है। इस शरीर में भीतरसे बाहर तक सर्वत्र देख तो लो कि इसके अन्दर सारकी चीज क्या है ? यह शरीर हड्डी मांस का पींजड़ा है, चामकी चादरसे मढ़ा है। यदि यह चामकी चादर इस पर न हो तो कौवे, चील इसको अब तक बचने देते क्या ? न बचने देते। ऐसा यह अपवित्र शरीर है। इसमें सर्वत्र अपवित्रता ही समायी हुई है।

इस जीवको सबसे अधिक पराधीनताका अवसर आता है तो वह इस मनुष्यदेहके रूपमें रमनेमें आता है। पर इस रूपकी अपवित्रता तो देखो। सर्वत्र वही अपवित्रता है। एक बार राजकुमारने घूमते हुए एक सेठके लड़के को देखो और उसके पास संदेश भेजा, लड़का था चतुर, सोचा राजकुमार है अधिक हठकी बातोंमें पार न पड़ेगा। १५ दिनका अवसर दे दिया कि १५ दिनके बाद आप आना। १५ दिनमें क्या किया कि खूब जुलाब और दस्त होते हैं ना ? दवा खूब की। १५ दिन तक दस्त करके उसने एक घड़ेमें दस्त बंद कर दिया। घड़ा भर गया। उस घड़े को अच्छी तरहसे ढाक दिया। अब १५ दिनके दस्तोंके बाद रूप तो बिल्कुल फीका हो जायगा। सो उसका रूप ही बदल गया, हड्डियां निकल आयीं, भूत जैसा शरीर लगने लगा। राजकुमार आया और हालत देखी तो आश्चर्यमें आगया कि यह क्या ? १५ दिन बाद तो क्या देखा था ? अब तो यहां कुछ भी सुन्दरता नहीं और डरावना शरीर भी हो गया। तो भी सोचो कि लड़का कहता है कि आश्चर्य मत करो, सुन्दरता तो अब भी रखी हुई है। तुम्हें सुन्दरता से प्रेम था ना ? आवो हम तुम्हें सुन्दरता दिखावें। घड़ेके पास ले गया। घड़ेका मुख खोला। उसने कहा सूंघो इसको। यह है इसकी तुम्हारी सुन्दरता। अपवित्र जो धातुवें भरी हुई हैं उनका ही दिखावा है, वही सुन्दरता है। ना तो अपने शरीरसे मोह रखो कि मैं इतना ही सब कुछ हूं और इस शरीर के लिए ही हमें सब कुछ करना है, इस शरीर को आरामसे रखना है। शरीरको कष्ट हो, शरीरको खब काम में लगा तो आपदा है यह मत सोचो। अरे शरीर तो शरीर है, मिट जाने वाली चीज है। हमारा इसमें तत्त्व नहीं है। इसको तो जितना ही काममें लगावो उतना ही अच्छा है। यदि इस शरीरको ही माना कि मैं हूं और उसमें ही मोह बसाये रहे तो धर्म कैसे कहा जायगा, बतलावो ? फिर भगवान्के दर्शन करके लाभ ही क्या पाया ? रात दिन यह किया कि यह मैं हूं, यह मेरा है, यह लड़का मेरा है, यह सब कुछ मेरा है—ऐसा संस्कार ही समाया रहा तो प्रभुके दर्शन क्या किये और धर्म

http://www.jainkosh.org

का क्या काम किया ?

गृहस्थीकी तो शोभा है कि वह सही जानता रहे और इन आरम्भ परिग्रहकी बातों में रहनेका पछतावा बना रहे। गृहस्थी तो वह है कि सच्चा ज्ञान भी जग रहा हो और परिग्रहके संगममें आनेका पछतावा भी हो रहा हो। इन दो बातोंका अपने-अपने हृदयमें परिचय तो करो कि इसमें ये दो बातें कितनी हैं ? ज्ञान कितना जग गया है और घरमें रहनेसे पछतावा कितना आ रहा है ? इतना बड़ा गांव है। दस पांच ही ऐसे निकलेंगे कि जिनको घरमें रहनेका पछतावा हो रहा होगा। गृहस्थ है वही कि जहां ज्ञान और वैराग्यका सम्बन्ध होता है। (इससे आगेकी कुछ प्रतियां नहीं मिलीं)

ज्ञानी सब जीवोंके यथार्थस्वरूपका भान कर रहा है। उसकी दृष्टिमें पाप तो घृणाके योग्य हो सकता है पर पाप आत्मा या जीव द्रव्य उसके घृणाके योग्य नहीं है क्योंकि वह ज्ञानी सर्वत्र निरख रहा है कि जीवस्वरूप तो सर्वत्र समान है। उसमें किसीका किसीसे कुछ भी अन्तर नहीं है। ऐसी विशद निर्मल स्वभावदृष्टि जिन ज्ञानी पुरुषोंमें होती है, ऐसे वे गृहस्थ हों तो भी उन गृहस्थों का बहुत आदर्श आचरण होता है। विजय है पुरुषोंकी तो आचरणसे है। ये लोग आदरके पात्र हो सकते हैं तो अपने आपसे ही सकते हैं। धन वैभव कितना ही हो यदि आचरण मलीन है तो प्रजाजनोंके द्वारा वह सन्मार्ग योग्य नहीं हो सकता है। सेवासे और आचरणसे आजके समयमें बहुत बड़ा स्थान प्राप्त किया जा सकता है।

भैया ! प्रभुकी भक्ति करते हुए अथवा जब-जब प्रभुकी याद आये या किसी धार्मिक कार्यमें लगें तो अन्तरमें यह ध्वनि उत्पन्न होनी चाहिए कि हे प्रभो ! मोह ही एक महान् संकट है और मेरा वह अपूर्व अवसर आये जिस से क्षण मोह न रहे, यही प्रार्थना है। यही धुनि प्रभुभक्तिमें और धर्मकृत्योंमें हमारी होनी चाहिए और अन्तरकी आवाजसे होनी चाहिए। सब कुछ संगम होकर भी इस संगममें यदि आसक्ति नहीं होगी तो अनाकुलता पायी जा सकेगी। संगममें आसक्ति हो तो इसका फल सीधा आकुलता है। यह नहीं होगा कि भाई हम उत्तम कुलमें पैदा हुए हैं तो हमारे ऊपर विपत्ति नहीं आनी चाहिए।

भैया ! अपने आपकी बहुत बड़ी जुम्मेदारी समझो और अपनेमें गुप्त रहकर अपनेमें बसे हुए शुद्ध परमात्मा के दर्शन करके, अनुभव करके कर्मों का क्षय करो, मोक्ष मार्गमें आगे बढ़ो। यह काम यदि अपने अन्तरमें कर सके तो यह अपने लिए बड़ी लाभकी बात होगी।

प्रभुकी भक्तिमें अपनी और प्रभुकी समानता देखी जाती है और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वर्तमानका अन्तर देखा जाता है और जिस उपायसे प्रभु हम जैसी निम्न अवस्थाओंसे उठकर प्रभु बन गये हैं, उस मार्गका अनुसरण किया जाता है। यही एक अपने से सम्बन्धित मार्ग है, बाकी तो यहां जो कुछ होता है सब जिस-जिसके उपयोगसे लगे उस उसके भाग्यसे वह उपार्जित होता है। जो होता है होने दो किन्तु आप तो आत्महित का संकल्प करो, एक महान् उद्देश्य बनाओ। ऐसा उद्देश्य बनाओ कि इन विकल्पोंकी तरंगें शांत हो जाएं और जाननमात्र वृत्तिका रसपान किया करें। एक ऐसी अन्तरमें धुनि होनी चाहिए बाकी तो सब बातें जानते हैं, अधर्मसे बचनेका यत्न करते हैं और बचाये बचाये भी फंसते रहते हैं। उन्होंने क्या मार्ग नहीं सोचा उन्होंने क्या उपदेश नहीं ढूंढ़ा, मार्ग तो उन्होंने सोचा किन्तु अन्तर धुनके बिना अब तक नहीं पाया।

यथार्थ हिंसाका मूल है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपका श्रद्धान् हो, अपने आत्माके ज्ञानका अनुभव हो और रागरहित वृत्तिमें रहकर ज्ञानानन्दका स्वाद लिए रहना, यही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्रमें रहना है। इसका मुख्य ध्येय बनालो और अपने जीवनमें ऐसी क्रांति लावो। ये सब कुछ संसारके कार्य, विकल्पोंके लिए होते हैं। मेरा करने का काम तो एक आत्मश्रद्धान आत्मज्ञान और आत्मआचरण ही है। सो स्वाध्यायके द्वारा, पढ़नेके द्वारा जिस तरह से ज्ञानका विकास हो वही एक करने योग्य काम है, तो इसकी ही धुनि बनाओ और तो सब बातें होती हैं पर फल करनेसे मिलता है। जानने को सब जानते हैं पर जो उस मार्गपर चलेगा विजय वही पायेगा। सब जानते हैं कि कषाय करना ठीक नहीं पर कषाय उत्पन्न न हो इसका साधन अपना अनन्तज्ञान है। दूसरा साधन नहीं है। ऐसे उपायसे अपने आत्मज्ञान की वृद्धि करो और बड़ा शांत वातावरण रखो। वचनव्यवहार अपना ऐसा प्रेमयुक्त रखो कि चाहे कोई कितना ही कडुवा बोलता हो। बोलता है तो उसकी परिणति है। तुम कडुवा बोलने वाले पर विजय प्राप्त कर सकते हो। ऐसा अपने आपमें गौरव होना चाहिए। कडुवा बोलने वाले पर अपनी विजय प्राप्त हो सकती है मधुर और हितकर वचन बोलनेके द्वारा। घर-घर में लड़ाइयां क्यों बढ़ जाती हैं? इसने दो कहा, इसने चार कहा। यह नहीं होता है कि यह जगत् तो असार है, यहां दूसरों पर क्या बगराना है। ये तो रीते हैं। कैसा भी व्यवहार किसी का हो पर अपना व्यवहार मधुर होना चाहिये है। देखो कभी कोई आपत्ति नहीं आ सकती है। ऐसे शांत वातावरण को बनाकर अपने आपमें अपने आत्मधर्म की साधना बनाये रहें तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्म होगा और नरजीवन अवश्य सफल होगा।

नैर्मल्यं नान्यनिन्दातो मालिन्यं शल्यमेव च।
किं कं कथं च निन्दानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३३॥

अन्य पुरुषों की निन्दा करके निर्मलता नहीं आती है। प्रत्युत मलीनता ही होती है, शल्य ही होता है। फिर मैं किसकी निन्दा करूँ ? निन्दा करने वाला मोहवश समझता है कि मैं कुछ अपनी बड़कारी का काम करता हूं, पर निन्दा से उसको कितनी हानि हो रही है और लोकमें भी कितनी हानि है, इसका वह ख्याल नहीं करता। कोई पुरुष दूसरेकी निन्दा करता है तो अभिमानके कारण करता है। अपनेमें अभिमान उत्पन्न होता है तो दूसरोंकी निन्दाकी चेष्टा बन जाती है। मैं बड़ा हूं, अमुक छोटे हैं इस प्रकारके भाव आये बिना निन्दा नहीं कर सकता। जो लोग छोटी गृहस्थावस्था में रहकर भी बड़े २ साधुजनोंकी निन्दा करते हैं तो उनके चित्त में यह ध्यान है, यद्यपि वे जानते हैं कि मैं गृहस्थ हूं, मेरा साधारण पद है लेकिन वे यह भी समझ रहे हैं कि मैं अपने साधारण पदमें रहकर भी उत्कृष्ट काम कर रहा हूं और साधुजन खोटे हैं। बड़ोंकी निन्दा जब तक नहीं हो पाती है जब तक अपने में अभिमानका उदय न हो। उस निन्दासे तत्व कुछ नहीं निकलता। एक तो अपना उपयोग भ्रष्ट किया और निन्दा करने के फलमें पड़ौसियों ने अपनी निगाहसे उतार दिया। सो निन्दासे केवल मलिनता बढ़ती है, शल्य ही होता है। दूसरोंकी निन्दा करनेके बाद एक पछतावा आता है कि मैंने व्यर्थमें ऐसे बचन निकाले। लोगोंके बीच हमनें तुच्छता ही जाहिर की---ऐसा विचार कर उसको एक पछतावा भी होता है, शल्य भी हो जाता है।

जो निन्दा नहीं करता तो आप उसे बड़े प्रेमसे देखते हैं, वह सभीके आदरके लायक है। जितने भी संकट हैं वे सब संकट अपने बचनोंकी पद्धति के कारण हैं। जीव तो कोई किसीका शत्रु नहीं। जीव सब एकस्वरूप हैं पर यह जो ऐसा अनुभव होता है कि यह मेरे विरूद्ध है या इसकी नजर हम पर ठीक नहीं है तो उसके कारण खुदका ही अपराध ढूँढ़ना चाहिए। अपने अपराध बिना अपनेको क्लेश नहीं होता। ये बातें सब जानते हैं। यह बचनों का उपक्रम ही हमारी शांति और अशांति का कारण बनता है। विवेकी पुरुष जो होते हैं वे अपने आपमें ऐसा निर्णय रखते हैं कि भाई बोलने की ही तो बात है। जरा भला बोल लिया तो उस भला बोलनेसे सब समयके लिए आराम मिल गया, शांति प्राप्त हो गयी किन्तु जब अभिमान का उदय होता है, अपने को बड़ा मानने का भूत सवार हो जाता है तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बचन सुन्दर नहीं निकल सकते। अभिमानी पुरुष कड़वा ही बोलेगा। अभिमान कहो या कठोरता कहो एक ही बात है। जब अभिमान नहीं रहता है तो वहां मार्दव प्रेम हो जाता है। मार्दव कहो या कोमलता कहो, एक ही बात है। जब तक उपयोग विनयपूर्ण रहता है तब तक इसको बड़ा आराम मिलता है। शांति और निराकुलता प्राप्त होती है। जिसके हृदय में अन्याय और मुखसे जब दुर्वचन निकलने लगें तो वहां बेचैनी अपने आप आ जायगी। किसी मनुष्यके बुरा बोलने का परिणाम या निन्दा करने का परिणाम भयंकर ही है। उस दुर्व्यवहारसे शांति नहीं प्राप्त हो सकती है। इसलिएमैं पर की निन्दा त्याग कर, परसे दुर्वचन बोलना त्यागकर अपनेमें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपको निरखँ और उसमें ही लीन होकर अपने में अपने आप सुखी होऊँ।

प्रशंसकेन दत्तं किं क्षोभं कृत्वा पलायितः।
किं हितं तेन किं रोचे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३४॥

जैसे किसी की निन्दा करनेसे हमें लाभ नहीं है और दूसरों के द्वारा निन्दा भरी बातें सुनकर अपनेमें अज्ञान विकार उत्पन्न कर लेने में लाभ नहीं है, इसी प्रकार प्रशंसा के सम्बन्ध में भी कह रहे हैं कि प्रशंसासे अपने को लाभ क्या मिलता है? प्रशंसकने यदि प्रशंसा कर दिया उसकी एवजमें उसे प्राप्त हुआ क्या? वह अपनेमें क्षोभ मचा करके भाग गया। प्रशंसा की दो चार बातें सुनीं तो आपको एक क्षोभ उत्पन्न हो गया और प्रशंसा करने वाले ने किसी प्रकार से सुखी कर दिया। किसी प्रकार उसको उत्थान दूं ऐसा उसके चित्तमें श्रम करनेका भाव आ जाता है। प्रशंसा करने वाले से इसको लाभ नहीं मिला बल्कि क्षोभ ही इसको प्राप्त हुआ। क्षोभ करके यह अपने स्थान पर आ गया और प्रशंसा सुनने वाला जीव अपने आपमें अनेक प्रकारके विकल्प मचा कर दुःखी होने लगा। मोही प्राणी ही अपनी प्रशंसा सुनकर अपने में सुख का अनुभव करता है। तत्वदृष्टि से विचारो तो प्रशंसक से अपनी हानि होती है। यदि प्रशसक न होते तो इसको बहिर्मुखता करने का अवसर न मिलता। अपने आपमें बसे हुए आत्मदेव के ध्यान में इसका उपयोग जमता। वह तो क्षोभ का निमित्त बनाकर भाग गया, उससे लाभ कुछ नहीं होता। मेरा लाभ तो मेरे स्वाभाविक निरुपाधि चैतन्यस्वभाव के उपयोग में है। इन सब पर्यायोंमें जो कि विपरीत भी हो रही हैं, जिनका निषेध किया जाने योग्य है उन पर्यायोंमें भी यह अनन्तानन्द नित्यप्रकाशमान मेरा चैतन्यप्रभु विराजमान है, उसकी दृष्टि करूँ और सर्वविडम्बनाओं से दूर होकर मैं अपनेमें अपने समता रस का स्वाद

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लूँ। जगतव्यवहार में जो संकट हैं वे प्रशंसाके संकट हैं। प्रायः प्रत्येक मानव प्रशंसा सुनने का लोभी है और भिखारी प्रशंसा सुनने का बन रहा है। परसे आशा की जा रही है। इनका राग मिटाना यद्यपि बहुत कठिन चीज है लेकिन शांति यदि पाने की अभिलाषा है तो इस राग को समूल नष्ट करना होगा। किसी भी प्रकार की प्रशंसा की रुचि न करनी होगी। सबसे दूर अपने में बिराजमान परमात्मदेव की उपासना करनी चाहिए। जिस प्रशंसक ने मुझे कुछ देना नहीं तो उससे प्रीति करना व्यर्थ है ? इसी प्रकार निन्दक ने मेरा कुछ छीना नहीं, इसलिए निन्दक से ग्लानि करना, निन्दक को संगमें लेकर अपने आप में शोक करना भी व्यर्थ की बात है, इसी बात को अब कहते हैं।

निन्दकेन हृतं किं मे दोषमुक्त्वा स्थिरीकृतः।
का क्षतिस्तेन किं शोचै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३५॥

निन्दा करने वाले ने हर क्या लिया ? वह तो मेरे दोष कह कर मुझे स्थिर और सावधान कर गया है। तो वह निन्दक परम मित्र हो गया है। जगत में कोई दुश्मन नहीं है। अपना व्यवहार अयोग्य है तो दूसरे भी हमसे विमुख हो जाते हैं। अपना व्यवहार योग्य है तो दूसरे अपनी ओर आकृष्ट होते हैं। इस कारण विरुद्ध परिस्थितिमें अपने ही अपराध की खोज करना चाहिये। यद्यपि जैसे अपना अपराध अपने से होता है वैसे ही दूसरे पुरुषों में भी अपराध हो जाता है। दूसरे अपराध मेरे लिए पीछे करते हैं किन्तु मैं अपराध पहिले करता हूं। मौलिक आपदा वही है। हम यदि अशांति का अनुभव करते हैं, जिसकी वजह से जगतके दूसरों का भी उपयोग मेरे विरुद्ध हो गया है। निन्दक ने हरा क्या ? निन्दा करने वाला यही तो कहेगा कि यह ऐसा बुरा है। तो यदि बुरा है तो बुराई हटाना चाहिए। निन्दा करने वाले से यह अर्थ निकालना चाहिए कि हमको यह सावधानी का उपदेश दे रहा है, हमारे भविष्यमें कोई बुराई न आ जाय। हर प्रकार से निन्दक के द्वारा अपना भला ही हो सकता है बल्कि प्रशंसक के द्वारा अपनी बुराई हो सकती है क्योंकि प्रशंसकके संगमें सावधानी बर्तने का उपयोग नहीं रहता, किन्तु निन्दकके संगमें अपनी सावधानी बर्तने का प्रयत्न रहता है, इसलिए निन्दक ने हरा कुछ नहीं। वह निन्दक तो मुझे स्थिर कर गया है। मैं क्यों शोक करूँ ? मेरा हित तो मेरे स्वाभाविक इस चैतन्यस्वभाव के बर्तने से है जो सब क्लेशों में भी सर्वअवस्थाओं में भी अन्वयरूपसे रह रहा है, कभी मुझे दिखता नहीं है---ऐसा अपने आपमें गुप्त विराजमान ज्ञानस्वभावकी दृष्टि वाले और अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होवें।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञप्तिक्रियस्य मे वृत्तौ निवृत्तौ चाग्रहः कुतः ।
यत्कर्तुमपि चायातु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–३६॥

कहते हैं जानना ही एक क्रिया है। ऐसे मुझ आत्मामें किसी कार्यकी प्रवृत्तिसे क्यों आग्रह हो और किसी बातकी निवृत्तिका क्यों आग्रह हो जो करनेमें आ रहा हो आवे, मैं तो अपने शुद्धज्ञानकी वर्तना को ही संभालूँ। मैं ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य करनेमें समर्थ नहीं हूं। क्योंकि मैं ज्ञान-स्वरूप हूं और ज्ञानकी वृत्तिमें ही रहा करूँ, ऐसा मेरा कार्य है। सो मैं ज्ञान वर्तनाके द्वारा ही अपनेको पवित्र बनाए रहूं। किन्हीं बाह्यभावोंमें प्रवृत्ति करने का मेरा स्वभाव नहीं है और किसी बाह्यपदार्थसे निवृत्ति करनेका मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अपने स्वरूपास्तित्व में हूं। सो स्वयं ही बाह्यपदार्थोंसे निवृत्ति हो। अब और निवृत्ति क्या होना चाहिये ? मेरा किसी पदार्थमें प्रवेश ही नहीं, किसीमें लगा हुआ नहीं हूं। लगकर हटना है। केवल विकल्प किसी पदार्थमें लगानेका बनाया था सो उन विकल्पोंको ही हटाना है। वे विकल्प ज्ञानभावके द्वारा ही हटाना है। इसलिए मेरी किसी भी प्रवृत्तिमें यो निवृत्तिमें कुछ हठ न हो, मैं तो स्वभावसे ज्ञानमात्र हूं, निस्तरंग हूं, सो अपने ही इस शुद्ध ज्ञानस्वभावको ही निरखकर सर्वविकल्पों का मैं परित्याग करूँ। बड़ा कष्ट है इस जीव पर कि यह अपने स्वभावका आश्रय छोड़कर बाह्य पदार्थोंकी ओर संलग्न रहता है सो इन करनेकी विषमताओंको त्यागकर मैं अपने ज्ञानरूपसे ही रहूं। यह ज्ञान कैसा है ? केवल जाननमात्र है। केवल जाननमात्र मेरी वृत्ति रहे, इस प्रकारके जानन का ही जो यत्न है बस यह यत्न हमारे हितका साधन है। सो हम यह मानें कि मैं अज्ञानसे दूर होऊँ, ज्ञानवृत्तिमें रहूं और सर्वसंकटोंसे मुक्त होऊँ।

मानापमानता मोहे पर्यायस्य न चान्यथा।
तद्विविक्तस्य न क्षोभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–३७॥

इस मनुष्यको सबसे बड़ा दुःख है तो मान अपमानका दुःख है। जितने विवाद और झगड़े चलते हैं उनका कारण मान और अपमान है। मान और अपमान तो जानते होंगे ? किसनेँ गाली दे दी या बुरी तरहसे बोल दिया हो यह समझने लगे कि हमारा अपमान कर रहा है। सो इस जीवको यह राग बहुत लगा है जिसके मारे यह परेशान है। घरके बच्चोंने व बहूने बात न मानी तो न मानों पर उतना दुःख नहीं है जितना कि यह दुःख है कि मेरा अपमान कर दिया। हमारी बात नहीं रही। सो घर-घरमें देश-देशमें इस जीवको बड़े संकट हैं। पर यह तो बताओ कि दुनिया अगर तुम्हारा बुरा करती है, अपमान करती है तो तुम्हारी आत्माका क्या करत?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है या इस ढांचेका क्या अपमान करती है? पहिले यह बतलावो। तुम्हारा जो जीव है, इस शरीर के अन्दरमें उस जीवको कौन जानता है ? उसके शक्ल नहीं, सूरत नहीं तो दूसरोंकी दृष्टि नहीं। आपके जीवको तो कोई जानते नहीं। जो शरीर लगा है यही हाथ, पैर, नाक, कान का इसको ही दुनियां समझती है कि यह फलाने हैं। जीवको नहीं जानते। यदि कोई गाली देगा तो शरीर को गाली देगा। जीव को तो कोई जानता ही नहीं, क्योंकि तुम्हारे जीव तक दूसरोंकी पहुंच नहीं। और जिसकी पहुंच उस जीव तक हो जाय वह ज्ञानी हो जाय। मान अपमानकी जो बुद्धि है शरीरसे होती है। शरीरको माना है कि मैं हूं। इसने मुझे यों किया, ऐसा सोचकर दुःखी होने लगता है। सो मान और अपमान मोहसे ही होता है। मान अपमान पर्यायसे होते हैं। इतना मान अपमान ही दुःखी करता है मेरा मान अपमान कोई नहीं करता। मान अपमान इस ढांचे का होता है। मान अपमान मेरे जीवका नहीं किया जा सकता। सो शरीरमें यह जीव है। शरीरमें ममता है तो शरीर मानता है कि मेरा मान अपमान है। इस जीवका कोई कुछ नहीं करता, पर शरीर सोचता है कि हाय मेरा यह कर दिया। शरीर बहुत संकटोंमें आ जाता है। अभी तुम्हारे घरमें कोई बच्चा बीमार हो जाय तो तुम्हारे भी बुखार चढ़ आता है। बच्चे को बुखार नहीं चढ़ता किन्तु मोहवश आप भी दुःखी हो गए। सो ज्ञानका यही फल है कि भीतर बसे हुए अपने भगवान्‌को समझ लो। मान और अपमान लौकिक दुनियां करती है। उसका सब ख्याल छोड़ दो तो सुखी हो जावोगे। सो जब तक शरीरमें यह बुद्धि है कि यह मैं हूं, तब तक समझोगे कि दूसरोंने मान किया और दूसरों ने अपमान किया और जब ज्ञान जग जायगा कि शरीर अलग चीज है और मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, शरीरसे न्यारा हूं तो जैसी दूसरों पर बीतती हैं उसका क्षोभ मनमें न करो। इस शरीर पर जो कुछ बीते उसका ख्याल न हो, इस शरीरसे अपने को न्यारा समझो तो बहुत सी अटपट बातें अपने आप दूर हो जाती हैं। अभी देखो शरीरमें जितना मोह लगा है तो १० जगह खावो फिर भी भूख लगती है। शरीरकी स्थिति बार-बारके भोजनसे रहती है। शरीरमें मोह लगा है तो पेट भरा है, फिर भी कोई चीज दिख जाय तो जी कर जाता है कि खावें। यह जीव कुछ नहीं कराता। ये सब नटखट शरीर ही कराता है। खाने पीने व गप्पों सप्पोंमें समय गुजार देते हैं। भगवान्‌का ख्याल करना; अपना ध्यान करना इसके लिए बुद्धि ही नहीं उत्पन्न होती है क्यों कि शरीरसे मोह लगा है। सो शरीर से मोह त्यागो और अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होओ।

http://sahjanandvarnishastra.org/

परान् शिक्षैः परैः शिष्ये मोहचेष्टैव नान्यतः।
गुणो ह्यन्येऽविकल्पोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-३८॥

जितने जीव हैं उन सबके साथ कर्म लगे हैं और जो जैसे कर्म करता है वह वैसा ही फल पाता है। करे और, भोगे और ऐसा अन्याय इस दुनियां में नहीं है। जो करेगा सोई भरेगा। पापका काम करोगे तो पापका फल भोगोगे और पुण्यका काम करोगे तो पुण्यका फल भोगोगे। जैसा अपना आचरण करे, विश्वास करे वैसा फल भोगता है। कोई ऐसा नहीं है कि दूसरा मदद करदे। तुम्हारा अगर पुण्य है तो दूसरे भी तुम्हारी मदद कर देंगे और अगर तुम्हारा पुण्य नहीं है तो कोई तुम्हारी मदद न करेगा। अपना व्यवहार अच्छा बनाओ, दूसरे जीवोंको अपने ही समान समझकर उनसे प्रेमयुक्त बचनोंका व्यवहार करो। किसीको परेशानी न उत्पन्न हो ऐसा अपना व्यवहार रखना यही लौकिक सुखोंका उपाय है और इसी से परमार्थ सुखका रास्ता मिलता है। कोई जीव किसी दूसरे को न सुखी करता, न दुःखी करता और न कोई किसी प्रकारकी दुःखकी परिस्थिति बनाता। यहां तक कि जैसे हम बोल रहे हैं तो हम तुम्हें नहीं समझा सकते आप लोग तो स्वयं ज्ञानमय हो, समझना होगा तो आप लोग स्वयं ज्ञान से समझ लेंगे। हम नहीं समझा सकते। हमारा भाव है हम कह रहे हैं, बोल रहे हैं पर आप लोग समझोगे तो अपने ज्ञानसे स्वयं समझ लोगे। मैं तुम्हें कैसे समझा सकता हूं? कोई किसीको समझाता नहीं है। सब अपनेसे समझते हैं। अगर कोई किसीको ज्ञान देने लगे तो मास्टर लोग १०, २०, २५ बच्चोंको ज्ञान देनेके बाद मास्टर तो ज्ञानसे खाली हो जायेगा, मास्टर स्वयं ज्ञान से लुट जायेगा। बच्चे स्वयं अपने आप ज्ञान पैदा कर लेते हैं। मास्टर तो निमित्त रहता है। कोई जीव किसी का कुछ नहीं करता, सब अपने ही कर्मोंसे सुख भोगते और अपने ही कर्मोंसे दुःख भोगते हैं। जैसा ज्ञान है तैसा इस आत्माका बर्ताव चलता है। सो इस दुनियां को असार समझो, अशरण जानो और यहां यह विश्वास न बनाओ कि हमारे घरके लोग अच्छे हैं, घरके लोग प्रेमी हैं, वे हमारी मदद करते हैं— ऐसा भाव न रखो। आपका उदय अच्छा है तो आपसे बोलने वाले मिलेंगे और यदि आपका उदय खोटा है तो आपसे बोलने वाला भी कोई न मिलेगा। आपको अपनी बहुत बड़ी सावधानी रखना चाहिए। किसीको दुःख पहुंचानेका परिणमन न होना चाहिए। एक जीव का दूसरे जीवके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है कि वे समझाते हों और दूसरे समझते हों। हम आपको न ज्ञान देते और न आप मुझसे ज्ञान लेते हैं। इतना भी सम्बन्ध नहीं है। आप

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं। सभी जीव आनन्दके निधान हैं। आप अपने आपसे अपने विचार बनाते हो और अपने ज्ञान बनाते रहते हो। इसी प्रकार आनन्दकी बात है। कोई किसी को आनन्द नहीं देता। कोई किसी को सुख दुःख नहीं देता। खुद कल्पनाएं करते हैं और सुखी दुःखी होते हैं। कोई किसीका कुछ कर सकने वाला इस लोकमें नहीं है। सो अपनी जुम्मेदारी है कि न्याय नीति का व्यवहार करो। अगर अन्याय करके, अनीति करके धनसंचय कर लिया तो किस कामका? अरे न्याय बना रहे, नीति बनी रहे, सच्चाईका व्यवहार बना रहे तो अपने कर्मोंका फल मिलता है। अपनी करतूत पर निर्भर है कि हम सुखी हों, हम अपने भाव बिगाड़ते हैं, अपनी करतूत बिगाड़ते हैं और दूसरे पर दोष देते है तो उसका फल अशांति रहेगा, शांति नहीं हो सकती है।

स्वद्रव्यक्षेत्रभावानामाप्तौ भवति शुद्धता।
नान्यभावविकल्पोऽस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥६-३६॥

देखो जगत्में रुलते-रुलते चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते आज आपने यह मनुष्यभव पाया है। बहुत बार कीड़े मकोड़े, पेड़, पक्षी आदि बने। आज भी देखो उन नारकी जीवोंकी गतियां सुधरी नहीं हैं। पेड़ खड़े हैं, उनके जीभ नहीं है, नाक, कान, आंख आदि नहीं हैं। केवल ढांचा खड़ा है। उनके जिह्वा तक नहीं है और ये कीड़े मकौड़े सुरसरे निकलते हैं इनके जीभ है, नाक कान नहीं। उनका विकास अब भी रुका है। वे इतनी छोटी पर्यायमें है कि उनके नाक कान आंख भी नहीं। चींटी चींटा आदिके तो नाक है पर आंख, कान, नहीं। मच्छर जो हैं उनके नाक हो गई पर कान नहीं और कान भी हो गए, नाक हो गए, आंखें भी हो गयीं। भैंस, गाय, मुर्गा, मुर्गी, सूकर आदि हैं तो भी उनसे क्या लाभ? हम आप आखिर मनुष्य हैं, हम आपको ज्ञान मिला है, और इस जगत्के जीवोंको निगाह करके समझ लेते हैं। हम आपको मनुष्य भव मिला है, हम आपको मन मिला है, दिमाग मिला है। चाहो तो अच्छा काम करलो तो संसारसे तिर जायें और चाहो तो विषयोंमें लीन होकर संसारमें घूमते रहें। यह मनुष्य मुक्ति को भी प्राप्त कर सकता है और नरकमें भी जा सकता है। तो इतनी बड़ी पदवी पायी है, इतने बड़ा उत्कृष्ट साधन पाया है तो विवेक करना जरूरी है। ऐसा विवेक बनें कि अपने द्वारा किसी जीवको किसी प्रकारका संकट न पहुंचे। अहिंसा अपनाकर सब जीवोंको सुखी बनाने की भावना बनाओ। कोई जीव मेरे द्वारा दुःखी नहीं हो ऐसी अन्तरमें भावना बनाओ। यही है अहिंसा। सत्यव्यवहार रखो, किसीसे झूठ न बोलो, सच्चाईसे रहोगे तो लोग

http://sahjanandvarnishastra.org/

तुम्हें देवता की तरह मानेंगे। सब लोग तुम्हें देवता तुल्य मानेंगे। चाहे हजारों की चीज पड़ी हो, लाखोंकी चीज पड़ी हो उसे न छुवो, चोरी न करो। यदि उठा लानेसे वह धन आपके पास आ भी गया तो प्रथम तो धन घरमें रहता नहीं। वह किसी न किसी बहानेसे निकल जायगा। उस धनका आप उपयोग नहीं कर सकते। तो वह चीज भी आपके पास न रही और पापी भी बन गए। यदि वह चीज रहे भी तो इस जीवको लाभ क्या मिला? इसके साथ तो अपना ज्ञान और आनन्द है। बाहरी चीजोंसे मनुष्यको सुख नहीं मिलता किन्तु सच्चा ज्ञान बने तो सुख मिलता है। धन वैभव कितना ही हो तो सुख नहीं मिलता। सुख प्राप्त करने का साधन तो केवल अपनी सद्बुद्धि है।

किसी की चीज पर निगाह न डालो, चोरी न करो। चौथी बात है कि सब स्त्रियों पर मां, बहू, बेटियों पर बराबर निगाह डालो। सब बराबर हैं। यह शरीर तो एक पिंड है। मनुष्य हुए हैं प्रभुभक्ति के लिए और आत्म-ध्यान के लिए हुए हैं। सो बुरी दृष्टि न हो। सबको मां बहिन के तुल्य जानो। ५ वीं बात है कि परिग्रह की बात न रखो। संसार की कोई भी चीजको आप अपनी न समझें क्योंकि किसी दिन हम मर जायेंगे। साथमें क्या ले जायेंगे? अपना तो यह विश्वास हो कि मेरा कुछ नहीं है। द्रव्यके बिना गृहस्थी नहीं चलतीं है सो आप रखते हैं, ढंगसे खर्च करते हैं। सब कुछ बातें हैं। पर भीतर में यह श्रद्धा बनी रहे कि मेरा कुछ नहीं है। परमाणु मात्र भी मेरी चीज नहीं है–ऐसी सद्भावना जीवके बने तो आत्माका पोषण होगा। सबसे बड़ी चीज यह है कि अपनी शुद्ध आत्मा बनानेके लिए कुछ बातें रोज करना आवश्यक है। कोई न कोई धार्मिक ग्रंथ रोज पढ़ो क्योंकि उन धार्मिक पुस्तकोंसे अपने को एक प्रेरणा मिलती है। प्रभुकी भक्तिमें कुछ समय जरूर बिताओ। तीसरी बात है कि अच्छी संगति में बैठो, खोटे पुरुषों के संगमें न बैठो। हमेशा उत्तम कुलमें बैठो। चौथी बात है कि जो गुणी पुरुष मिलें उनका गुणगान करते रहो। किसीकी निन्दा न करो। यदि अपना जीवन उठाना है, अपनेको सुखी करना है और आत्माका उपकार करना है तो अपनी ऐसी उत्तम तैयारी बनाओ कि हमेशा यह सोचो कि किसी की निन्दा मुझसे न बने। किसीके प्रति दुर्वचन न निकलें। यह चीज है ५वीं। ६ठी बात यह है कि सबके प्रिय बनो। किसी भी प्रकारका क्षोभ करके प्रिय वचन बोलो। वचन ही तो है, इसमें कौनसी दरिद्रता की बात है। प्रिय वचन बोलो और सुखी होओ। कथानकमें कहते हैं कि एक बार दांत और जीभमें विवाद हो गया। दांत बोले कि हे जीभ! हम तुझे किस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दिन मरोड़ देंगे। जीभ बोली कि ऐ दांतों! भूल जावो, हममें वह कला है कि सब तुड़वा दें। अप्रिय वचन बोलकर लाठी डंडे से दांत तुड़वा दें। ७वीं बात यह है कि अपनी आत्माका ध्यान करो। इस शरीर के भीतर कौनसी चीज ऐसी है जो सुखकी आशा कराती है और दुःखसे दूर कराती है। ऐसा जो अपना आत्मा है उस आत्माका भी तो थोड़े समय ध्यान करो। और आत्माके ध्यानकी तरकीब है कि (१) इस संसार में सबको समान जानों (२) किसी चीज का ख्याल न रखो कि घर कैसा है? मकान कैसा है? लोग कैसे हैं? कुटुम्ब कैसा है? कुछ ख्याल न रखो। शरीर तक पर ध्यान न दो। केवल अपने इस ज्ञानस्वरूप पर ध्यान दो। मेरा कुछ नहीं है, ऐसा सोच कर विश्रामसे बैठ जावो और उस प्रभुकी ऐसी प्रेरणा होगी कि आत्माके दर्शन होंगे। यदि अपने परमात्माके दर्शन हो जायें तो जिन्दगी सफल है।

कर्म कर्महिताय स्यात्व दहं स्वहिताय हि।
हितं नर्मलयभावोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वमम् ॥६-४०॥

इस जीवके साथ जो कर्म लगे हैं उन कर्मोंकी ऐसी प्रकृति है कि वे और कर्मोंसे दबते जाते हैं। ये कर्म अपना कुटुम्ब बढ़ाया करते हैं। तभी तो देखो जिनमें कषाय जगती है उनके कषाय बढ़ती रहती है। सो ये कर्म कितने लगे हैं? कर्मों का काम है कि कर्मों की वृद्धि हो। कर्म अपने हित में लगे हैं, अपनी बढ़ाई में लगे हैं, उन्नति में लगे हैं। तो अपने को भी यह चाहिए कि अपनी अपनी उन्नति में लगें। जब कर्म अपनी आदत नहीं छोड़ते मे और अपनी वृद्धि करने में ही संलग्न हैं तो मैं भी अपने हितके लिए हूं। मेरा हित है अपने में निर्मल परिणाम बनाना। निर्मल परिणाम वे कहलाते हैं कि जिनमें विषय और कषाय की बढ़ाई न हो। इंद्रियों ने जो विषय चाहा, जिन्होंने जो स्वाद चाहा उनमें ही बह गये तो यह मलिनता है। इन्द्रियां चाहती हैं कि बहुत सुन्दर भोजन मिले। अगर आत्मा की ओरसे ऐसा भाव होना चाहिए कि ऐ जिह्व! तेरे स्वादके लिए अब तक क्या क्या किया? कैसे-कैसे आरम्भ परिग्रह नाज तेरे स्वाद के लिए किये, पर तू अब तक तृप्त नहीं हुई। बल्कि ज्यों ज्यों स्वाद लिया त्यों त्यों तृष्णा बढ़ी और स्वास्थ्य भी गया। इसी तरह और इन्द्रियों की बात देखो। चक्षुओंसे रूप देखना। कोई रूप ऐसा देख लिया बहुत देर तक, इससे आत्मबुद्धि क्या हुई? कुछ भी तो कल्याण की बात नहीं है। इन्द्रियों के विषयमें न बहना और अपनेमें कषाय न उत्पन्न होने देना, यह ही साधुता है, यही निर्मलता है। सो अपना हित निर्मल परिणाम में है। सर्वप्रकारके यत्न करके अपने परिणामों को निर्मल बनाओ। इस जीव की इच्छा होती

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है कि मैं बड़ाई की बातें सुना करूँ। प्रशंसा की बातें सुना करूँ, निन्दा की बातें नहीं सुनना चाहता। पाप और निन्दाकी बातें भरपेट सुनेगा क्योंकि दूसरा कोई बात ही बोलेगा। उसका मुख है, उसकी जीभ है उसका कषाय है। जो उसे बोलना था बोल दिया, चेष्टा कर लिया। मैं कल्पना बनाऊँ और उन बातों को अपने चित्तमें जमाऊँ तो मुझे क्लेश है। मैं नहीं जमाना चाहता। हो गया, वहां की चीज वहां रहेगी। ऐसा यत्न करो कि जिससे विषय और कषायकी बातें अन्तर में न जमें। यही आत्माका हित है। इससे हित की वृद्धि है। और यह निर्मलता जब आती है तब अपने स्वरूप की पकड़ हो कि मैं दुनियासे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप एकसारभूत चीज हूं—ऐसा उपयोग आ जाय तो इसमें निर्मलता बढ़ सकती है। तो कुछ क्षण अपने इस धर्मको पालना चाहिए और अपने आत्माको अपने ध्यानमें जमाना चाहिए। कर्म अगर अपनी बड़ाईमें लगते हैं तो लगा करें हमें अपनी बड़ाईमें लगना चाहिए और अपनी बड़ाई निर्मलताके न्यायके विरुद्ध भाव न रखो। उन्माद करके अगर दो पैसे ज्यादा आते हैं तो उन पैसों की लानत है। इन सब असार चीजों का संचय करना चाहें तो यह अज्ञानता है। विश्वासघात बहुत भयंकर पाप है। किसीको कोई विश्वास देकर उस विश्वास का घात कर दिया, इसे कितने क्लेश होते हैं ? उसका आत्मा ही जानता है। इसलिए अपना आचरण बड़ी सावधानीका होना चाहिए। कम बोलो, व्यर्थ न बोलो, प्रयोजन हो तो बोलो। जिन्दगीमें दो ही प्रयोजन हैं। एक तो प्रयोजन आजीविका का है और दूसरा प्रयोजन व्यवहारका है ? और बाकी अगर संग बढ़े, अपना प्रचार बनाए, दोस्ती बनाए तो ये सब फालतू की बातें हैं। सो मैं अपनी निर्मलता को बनाता हूँ, अपनेसे बढ़कर रागद्वेष को बाहर कर विश्राम पाऊँ और अपनेमें स्वयं सुखी होऊँ।

स्वज्ञः शत्रुः कुतो मित्रमज्ञः कस्य सुहृद्रिपुः।
स्वपरस्थः सुहृच्छत्रुः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४१॥

एक मलीनता और विकट हुआ करती है कि अपने मनमें यह धारणा बनाओ कि अमुक मेरा शत्रु है। अरे जगतके इन जीवोंमें जो कि सभी मेरे स्वरूपके समान है और मेरी ही तरह कोई मेरेमें सुधार बिगाड़ नहीं कर सकता। एक जीवका दूसरे जीवमें अत्यन्ताभाव है, कोई वास्ता नहीं है। उनमेंसे यह छटनी करना की अमुक मेरा मित्र है और अमुक मेरा शत्रु है। यह बहुत बड़ी मलिनता है। कौन मेरा शत्रु है ? कौन मेरा मित्र है ? यह विचार करो कि कौन मेरी आत्माको जानता है ? यदि आत्माको यथार्थ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

से कोई जानता है तो वह मेरा शत्रु रह नहीं सकता क्योंकि वह ज्ञानी बन गया। ज्ञानी जीव किसी का शत्रु नहीं हो सकता। मेरी आत्माको जिसने न जाना तो वह मेरा शत्रु कैसे ? मुझे तो जानना ही नहीं है, शरीर को जानना है। और दुश्मनी कोई करता है तो शरीर से दुश्मनी होगी। अव्वल तो कोई शरीरका दुश्मन नहीं होता। यदि कोई दुश्मनी करता है तो वह अपने में दुश्मनीके भाव करता है। खुद दुश्मन बना है, दूसरों का दुश्मन कोई नहीं बनता है। दुनियांमें कोई मेरा मित्र नहीं है। होही नहीं सकता। और कोई जीव मेरी परिणति को बना देगा, या बिगाड़ देगा ऐसी किसीमें ताकत है क्या ? हम ही अपने भाव खोटे करके बिगड़ गये और अपने भाव ठीक रखें तो सुधर गये। मुझे सुधारने और बिगाड़ने वाला दुनियां में कोई नहीं है। तो फिर मेरा कोई शत्रु मित्र कैसे ? जिस विषयका जिसको आप चाहते हैं उसे मित्र मान लेते हैं। जैसे कोई बच्चा सिनेमा देखने जाता है और किसी दूसरे बच्चेको भी सिनेमा देखनेकी आदत हो जाय तो वे दोनों एक दूसरेके मित्र हो जाते हैं। कोई किसीका न मित्र है और न शत्रु है। यदि मैं अपने आपकी आत्माका ज्ञाता होऊँ और अपने आत्माके स्वरूपमें विश्राम पाऊँ तो मैं अपना मित्र बन गया। और मैं अपनेसे चिगकर किसी बाह्यपदार्थ में उपयोग दूँ तो मैं अपना ही शत्रु बन गया। हममें ऐसी कला है कि अपने में मित्र बन जाऊँ और अपना ही शत्रु बन जाऊँ। पर दूसरे जीवोंमें कोई ऐसा नहीं है कि मेरा शत्रु हो और कोई मेरा मित्र हो। सो इस कल्पनाको त्यागो कि मेरा कोई शत्रु है और मेरा कोई मित्र है। मैं तो ज्ञानमात्र पदार्थ हूं। मेरे ज्ञानमात्रभावको कोई पहिचानेगा तो वह खुद ज्ञानी बन जागया। अब वह रागद्वेष मोह कैसे कर सकेगा ? इस कारण एक निर्णय मनमें रखो कि कोई न मेरा शत्रु है और न मेरा मित्र है। किसीसे मोह मत बढ़ाओ और किसीसे द्वेष मत करो। रागद्वेष को तजकर अपने आपकी ओर झुककर अपनेमें विश्राम लेने का प्रयत्न करो।

स्वैकत्वस्याप्युपायो मे साम्यं नान्यत्कदापि हि।
साम्यघातः परे बुद्धेः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४२॥

मेरा जो निजी स्वरूप है वह मेरा एकत्व कहलाता है। मेरा निजी स्वरूप है चैतन्यभात्र, ज्ञानानन्द। उस ज्ञानानन्दकी प्राप्तिका उपाय है समता का परिणाम। रागद्वेष कर के अपने आत्माके दर्शन कोई नहीं कर सकता है। प्रभुके दर्शन भी कोई नहीं कर सकता है। जब समताका परिणाम आयगा, किसी पदार्थमें रागद्वेषकी वृत्ति न जागेगी तो समताके परिणामके समयमें ही इस प्रभुके दर्शन हो सकते हैं। और गृहस्थीका तो मुख्य काम है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि गृहस्थावस्थामें ही पड़े है तो कीचड़ जैसी अवस्था है। गृहस्थीमें उपद्रव्य है तो कितनी कठिनाइयां आती हैं ? यह केवल एक गृहस्थी ही जान सकता है। घरमें ५, ६ आदमियों से संग है तो कभी न कभी अनबन हो जाती है। कोई किसीसे मेल नहीं खाता है। अपनी-अपनी आदतें बनाई हैं उनको अनेक आपदाएँ होती हैं। वे आपदाएँ ज्ञानसे ही दूर हो सकती हैं। जहां यह जाना कि किसका कौन है ? सबकी स्वरूप सत्ता जुदा है, सब अपने आपमें अपना परिणमन करते हैं। जो करते हैं करने दो। उससे मेरेमें कोई हानि लाभ नहीं है। हां, मेरे हित के वास्ते शिक्षाकी बात जरूरी है। यदि तुममें थोड़ासा ज्ञान है तो मान जावोगे और यदि कुटेव है तो ज्ञानकी बातोंसे उपेक्षा कर जावोगे। अपने ज्ञान, ध्यान और वृत्ति के कामों को करते जावो। ज्ञानी गृहस्थी को कभी क्लेश नहीं होता। क्लेश गृहस्थी में नहीं होते, क्लेश तो अज्ञान से होते हैं। गृहस्थीमें रहते हुए जब अज्ञान बनता है तो कष्ट होगा और अज्ञान नहीं है तो गृहस्थी में भी सुख है। उस को कोई क्लेश नहीं है, क्लेशकी जड़ तो अज्ञान है। सो वह अज्ञान दूर करो। समता अपनेमें लावो। समता का जो विनाश है वह तो परपदार्थोंमें रागबुद्धि करनेसे होता है। पर को चाह रहे हैं, संचय चाह रहे हैं, अपने विषय की वांछा कर रहे हैं तो उसमें समता परिणाम नहीं टिक सकता। यह मेरा है, यह इनका है, घरके दो भाई हैं, उन भाइयों अपने लड़कोंमें जब यह बुद्धि आजाती है कि ये मेरे हैं, इनकी खूब संभाल करना चाहिए और दूसरे भाईके लड़कोंमें यह बुद्धि आये कि ये मेरे नहीं हैं तो यह समता का परिणाम नहीं रहा। वे सब न्यारे हैं। घरमें रहने वाले सभी व्यक्तियों पर समान बुद्धि रखो। उनमें यह न मानो कि ये मेरे हैं, ये गैर हैं। गृहस्थावस्था में भी यदि ज्ञान जागृत है तो क्लेश नहीं हो सकते हैं। क्लेश तो अज्ञानसे होते हैं। और अज्ञान क्या है ? मूलमें तो यही अज्ञान है कि यही चोला मैं हूं, यह शरीर ही मैं हूं। सो इसकी खुशामदमें रहना अज्ञान है। दूसरोंकी सेवा करनेमें आलस्य करना, स्वयं आराम करते रहना यह अज्ञान है। यही तो मिथ्यात्वकी बात है। इससे बड़ा मिथ्यात्व है कुटुम्ब परिवार का मोह, सो कुटुम्ब परिवार भी अपने क्लेशोंका कारण है। और अपनी समतासे, धैर्यसे कुटुम्बके साथ सद्व्यवहार कर लो। अगर मोह अधिक बनाकर अपनेमें विकल्प बनाऊँ तो यह अज्ञान है। सबसे अपना समताका परिणाम रखो, अपने ज्ञानसे अपने परिणामोंको सावधान बनाओ और क्लेशोंसे दूर होवो। यही क्लेशोंके दूर करने का एक उपाय है। इसी बातपर विशेष ध्यान दो।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

साम्यं विशुद्धविज्ञानं साम्यं रागविवर्जितम् ।
साम्यं स्वास्थ्यं सुखागारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–४३॥

समता ही जीवकी सम्पत्ति है। जिस मनुष्यके हृदयमें समता नहीं है बाहरमें चाहे कितने ही आडम्बर हों, वैभव हों फिर भी शांति नहीं हो सकती है। समताकी बड़ी महिमा है। बड़े-बड़े ऋषिगण जिसके सामने झुकते, राजा महाराजा भी झुकते, जिसको देवता भी बड़ी पूज्यताकी दृष्टिसे निरखते थे वह क्या था? समताका पुञ्ज। जो क्रोध करता हो, अभिमान में ऐंठा रहता हो, मायाचार जिसके बर्त रहा हो, लोभकी कितनी ही प्रबलता हो ऐसा पुरुष क्या किसीके द्वारा आदरके योग्य हो सकता है? समतामें ही पूज्यता और शांति है। वह समता क्या चीज है? तो उसे कई विशेषणों से कह सकते हैं। विशुद्ध ज्ञानका नाम समता है, निर्मल ज्ञान इस आत्माका ही ज्ञान है। सो वह जानता रहता है। उस जाननेके साथ रागद्वेष नहीं। केवल जानन बना रहे इसे कहते हैं समता। जिसके राग न उत्पन्न हो उसका नाम है समता अथवा अपने आत्मामें अपने आपकी स्थिति हो जाय उसको कहते हैं समता। अभी अपने व्यवहार ही में देख लो, जो जरासी बातोंमें भड़क जाते हैं, रागद्वेष करने लगते हैं, गाली गलौज देने लगते हैं उनको कितनी अशांति रहती है? समता सबका काम है। गृहस्थ भी जहां तक बनें वहां तक अपनी समता बनावें। धैर्य न खोवे तो जितने गुण आते हैं वे समताके माध्यम से आते हैं। ज्ञान सही रहे तो आनन्द स्वतः प्रकट हो। ये सब बातें समता पर निर्भर हैं। इसलिए समताका अभ्यास करना बहुत आवश्यक चीज है। सो उस समतापरिणाम को रखते हुए अपनेमें सुखी होऊँ। समता क्या चीज है? शत्रु और मित्रमें समान प्रेम रखो। शत्रु और मित्रमें समान प्रेम हो इसका नाम समता है। शत्रु जिसे समझा है वह भी एक चेतन जीव है और जिसको मित्र समझा है वह भी एक चेतन है। आत्मा अपने से बिल्कुल जुदा है। वे अपने परिणामोंसे अपनेमें अपनी चेष्टा करते हैं। उनमें से कोई भी न मेरा शत्रु है और न कोई मित्र है। ऐसा विवेक करके अपनेमें समता परिणाम बनाए रहना यही सबसे बड़ी सम्पदा है। महल मसानोंकी सम्पदा, बड़ी ऊँची अटारी वाले घर मिल गये तो क्या? एक छोटा घर मिल गया तो क्या? ये सब बाहरी बातें हैं। उन स्थितियों को पाकर मनमें किसी प्रकारका विकार न करो, खेद न करो, जो मिल गया सो ठीक है। जैसे मुसाफिर लोग रास्ता चलते जाते हैं, रास्तेमें कैसा भी वृक्ष मिल गया ठीक है, कैसी भी सड़क मिल गयी ठीक है। वह समझता है कि मुझे गुजर कर जाना ही है, इसलिए उसे दुःख नहीं होता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। इसी तरह धन वैभवकी बात है। थोड़ा धन वैभव हो गया तो क्या? अधिक वैभव मिल गया तो क्या? काम तो इस जिन्दगीमें धैर्यका है। प्रभु के दर्शनकी भक्ति बनी रहे और अपने आत्माके स्वरूपका ध्यान बना रहे जिससे कर्म कटते हैं तो इससे लाभ है। धन वैभवसे क्या लाभ है? धन वैभव थोड़ा हो तो क्या, बहुत हो तो क्या? धन वैभव बहुत होनेपर लोग इतना ही तो कह देंगे कि यह बड़ा धनी है। वह तो इतना कहकर अलग हो गया और यहां तृष्णा लग गयी। सो धन कमानेकी फिकरमें रात दिन मर गये और जो लोग कुछ प्रशंसा की बात कह देते हैं वे भी तो मलिन जीव हैं। वे भी तो संसारमें जन्ममरणके चक्कर लगाने वाले जीव हैं। कोई महंत नहीं हैं। कोई प्रभु नहीं है। वे भी तो इस संसारमें रुलने वाले प्राणी हैं। उनकी बातोंका क्या ख्याल करें? वे हमारे सहाय तो नहीं हैं। मरने पर हमारी मदद कर देंगे या इस जीवनमें वे मेरे सुख दुःखके साथी हो सकेंगे—ऐसा कोई नहीं है। खुदसे जैसे कर्म उपार्जित किये हैं, उनके अनुसार मुझे सुख दुःख मिलेगा। हम ही हमारे सुख दुःखके जिम्मेदार हैं। जितना समता से हटते हैं उतना ही तो कर्म बांधते हैं और जितनी अपने में समता बनाए रहते हैं उतना ही कर्म कटते हैं। यह समता जब पैदा हो तब अन्तरमें किसी वस्तुके प्रति मोह न जगे। घरमें रहते रहें पर सच्ची बात जान लेनेमें कौनसी आफत है? मैं सबसे न्यारा हूं कि नहीं। सब जुदे हैं कि नहीं। सबके कर्म न्यारे हैं कि नहीं। उनसे कुछ सम्बन्ध तो नहीं है। सच-सच बात जानते रहो बस यही धर्मका पालन है। आप स्तवन करें, मंजीरा बजाएं, बड़े ऊँचे स्वरसे गायें तो यह धर्म नहीं हुआ। धर्म तो मोह न हो तो होगा और चीजोंसे धर्म न होगा। इसलिए ऐसा ध्यान बनाओ और अपने प्रभुसे यह मांगो कि मेरेमें मोह न जगे। सत्य ज्ञान बना रहे। सम्यग्ज्ञान से ही इस जीवनमें सफलता है।

मुनीन्द्रैरपि पूज्यं तत्साम्यं सर्वोत्तमं पदम्।
साम्यं स्वस्य स्वयं रूपं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥९–४४॥

यह समता बड़े-बड़े मुनियोंके द्वारा पूज्य है। पूजा किसकी होती है? किसीकी शक्ल सूरत की पूजा नहीं है। पूजा तो गुणोंकी होती है। जो अपनेमें गुण रुच गये इससे पूजा होती है। तो अपने ही गुणोंकी पूजा है। इसलिए भगवान्की पूजा करते हो तो वह भगवान्की पूजा नहीं है। वह आपके अपने गुणोंकी पूजा है। सो जो कोई पूजता है वह अपने ही गुणों को पूजता है। समता का ही एक महान् गुण है। यह समता बड़े बड़े मुनिराजोंके द्वारा पूज्य है। सबसे उत्कृष्ट यह है। यह समता क्या चीज है?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपना ही स्वरूप है। यह जीव शांतिका समुद्र है। इसमें दुःख और अशांति स्वभावसे नहीं है। पर अपने स्वरूपको भूलकर बाहरसे सुखकी आशा लगाये हैं, इसलिए सब आनन्द खत्म हो गया है और भिखारी बनकर जगह जगह भागता फिरता है। अपना स्वरूप संभाल लो तो सब कुछ चीजें न्यारी हैं।

प्रभुकी मुद्रा निरखकर यही अपना भाव आता है कि हे प्रभो! तुमने संसार को असार जाना था और सबसे वैराग्य लेकर अपने आपमें अपने को पूजा था। जिसके फलमें आप सर्वज्ञाता हैं, अनन्दानन्दनिधान हैं। ऐसी ही शक्ति प्रभु मुझमें है क्योंकि द्रव्यसे आत्मा वही एक है। मैं भी वैसा हो सकूँ, ऐसी भावना प्रभुके दर्शन करके मानी जानी चाहिये, समता का आदर करना चाहिए, तिलमिला नहीं उठना चाहिए। जरा सी विपदा आती है या किसी को कोई दुर्वचन बोल जाता है तो तिलमिला नहीं उठना चाहिए, क्षमा करना चाहिए। आपका बड़प्पन इसीमें है कि दूसरा कोई अपराधकी चेष्टा बनाए तो उसे क्षमा कर दो। इससे बहुत उत्थान होता है। तो यह समता बड़े-बड़े मुनिराजोंके द्वारा पूज्य है। वह समता अपना ही स्वरूप है। सो यह मैं अपनेमें ही बर्तता हुआ सुखी होऊँ।

मानापमानयोः साम्यं कीर्त्यकीर्त्योः सुखासुखे।
व्यग्रता पश्यतो न स्यात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४५॥

मान हो चाहे अपमान हो उसमें व्यग्रता न होनी चाहिए। ज्ञानानन्द विज्ञानस्वरूप को देखकर अपने ही अनुपम स्वरूपमें संतोष को पाकर मान और अपमान की व्यग्रता न करनी चाहिए। किसीने सम्मान दिया तो उससे तिर तो नहीं जावोगे तिरना अपने ज्ञानसे होगा। किसी ने दुर्वचन बोल दिया तो तुम बिगड़ तो नहीं गए। और दूसरों की दृष्टि में तुम खोटे हो तो उनकी ही तो दृष्टि खोटी है, तुम तो ज्यों के त्यों ज्ञानानन्दस्वरूप हो। सो अपमान का भी क्षोभ न करो। कोई प्रशंसा करे, कोई निन्दा करे उसमें भी क्षोभ न हो। सुख और दुःख आएँ उसमें भी व्यग्रता न होनी चाहिए। धन्य है वह गृहस्थी, वह पुरुष जो विपदाओं का भी स्वागत करता है। दुःख आते हैं तो आवो, दुःखमें मेरा ज्ञान न बिगड़े तो कुछ परवाह नहीं। जितने संकट आ सकते हों आवो। ज्ञान अगर बिगड़ता है तो वह सम्पदासे बिगड़ता है। तो जिस सम्पदासे अपना ज्ञान बिगड़ता है वह सम्पदा अपने कामकी नहीं है, वह सम्पदा बेकार है। अपने आपकी पवित्रता बनी रहे ऐसा अपना ज्ञान जमाना चाहिए। सो सुख और दुःख में व्यग्रता न हो ऐसा उपाय करो। वह उपाय यह है कि सबसे न्यारा केवल एक ज्ञानानन्दमय अपने आप को

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखो, इसमें ही संतोष रहे। मैंने अपना स्वरूप पाया तो सब कुछ पा लिया। ये बातें आत्मज्ञान की है जब तक अपने आत्माके स्वरूप का भान नहीं होता है तब तक धर्मका कुछ भी पालन नहीं हो सकता। और आत्माका ज्ञान होना बहुत सरल है, जो चाहो सो कर सकते हो। केवल इतना ही तो करना है कि जगतके सब पदार्थों को भिन्न और अहित जानकर उनका विकल्प छोड़ना है और स्वयं शांत होकर निर्विकल्प बैठना है। अपने आपसे अपना ज्ञान प्रकट हो जायगा। सो आत्मा का ज्ञान करो और साथ ही साथ सद्व्यवहार करो। अपना ऐसा व्यवहार हो कि किसी जीवको क्लेश न उत्पन्न हो। कितनी ही विपदा आये पर झूठ न बोलो। किसी की गवाही न दो। किसीको फँसाने का जाल न बनाओ। परिग्रहके संचयमें अपनी बुद्धि न फँसावो। परिग्रह तो गुजारे के लिए आवश्यक है ऐसा नहीं है। गुजारा तो होता है। परिग्रह की धुनि न बनाओ। अपनी धुनि तो सदाचार की बनाओ। मेरा आचरण अच्छा रहे, पवित्र रहे, ऐसा यत्न करो तो उसमें शांति मिलेगी, परिग्रहसे शांति कहां मिलती है। वे तो जड़ पदार्थ हैं, लौकिक वैभव हैं, उनसे आत्मा में निराकुलता नहीं होती। अपने ज्ञान का आदर करो। अपने को पवित्र रखो और दूसरे जीवों का सम्मान करो। अपनेको चाहे दुःख हो जाय पर दूसरों को दुःखी न होने दो। ऐसा यत्न करो तो यह व्यवहार सुखका कारण हो सकता है।

शंसा निन्दा विपत्संपत्स्वाकुलतैव केवलम्।
नैद्वन्द्वयं ज्ञानमात्रेऽस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४६॥

इस जगत में जहां देखो वहां आकुलताएँ ही आकुलताएँ नजर आ रही हैं। घरमें रहने वाले लोग हैं वे समझते हैं कि मुझे बड़ी परेशानी है, जो कुटुम्बसे भरपूर हैं वे समझते हैं कि हमें बड़ी परेशानी है, जो गरीब हैं वे अपनेमें बेचैनी मानते हैं, जो धनी हैं वे अपने को बेचैन मानते हैं। तो फिर यह बतलावो कि इस जगत में सुखी कौन है? किसी आदमी का नाम तो बतलावो कि अमुक सुखी है। आप मिनिस्टर देखें चाहे राजा देखें ये सब दुःखी हैं क्योंकि वे सब जीव हैं उनके साथ कर्म लगे हैं। कर्मों का उदय है। सब दुःखी हो रहे है। कौनसी बातसे सुखी हैं सो बतलावो? धनसे भी तो सुख नहीं है। प्रशंसा निन्दासे भी सुख नहीं। सुख तो अपने भीतर बसे हुए शुद्ध ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि देनेसे ही हो सकता है। बाहर देखो तो सुख नहीं मिलेगा। बाहर से आंखें मींचो और अपने अन्दर ही कुछ पता पड़े तो सुख मिलेगा। बाहरमें सुख नहीं है। यह सारी दुनिया बाहर-बाहर ही में है। इसलिए सुख नहीं नजर आ रहा है। अपने निज अन्तर ज्ञानका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पता पड़े तो मैं सुखी बना बनाया हूं। कोई सुख हमको बनाना नहीं है। सुख मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मालूम हो मोह हटे तो इस जीवको सुख हो सकता है।

अभी चाहे आरामसे भी हों पर परस्परमें कलह चलता है, विवाद चलता है। उसका कारण क्या है कि कषाय अन्दर है और कषायके वश हैं सो जैसा कषाय आ गया तैसा कर लिया। जहाँ प्रशंसा है तो वहां आकुलता है जहाँ निन्दा है तो वहां आकुलता है। गरीब हो तो वहां आकुलता और सम्पत्ति आ जाय तो वहां आकुलता बाहरी पदार्थोंमें अपनी दृष्टि देने से सुख नहीं हो सकता है। सुख मिलेगा तो अपने अन्तर से ही मिलेगा। मेरा स्वरूप तो निर्द्वन्द्वता है। इसमें कोई दूसरी खटपट नहीं लगी है। शरीर के भीतर जो आत्मतत्त्व है, जिसके निकल जानेसे लोग कहते हैं कि यह मर गया। और लोग मृत शरीरको जला देते हैं। ऐसी जो चीज है वही तो मैं हूं। मैं शरीर नहीं और बाहरी चीज नहीं। इस शरीरके अन्दर जो चेतना है जिसके निकल जानेसे लोग शरीर को मृत कहने लगते हैं, वह चेतना मैं हूं। वह मैं चेतना सुखी हूं, निर्द्वन्द्व हूं, ज्ञानमात्र हूं, जो भीतरमें एक उजेला है, बस वही मैं हूं। इससे आगे अपनेको और कुछ माना तो दुःख ही है। मैंने शरीरको माना कि यह मैं हूं तो फिर दूसरों को माना कि ये मेरे शत्रु हैं और यह ये मेरे मित्र हैं, ये मेरे भाई हैं। इससे ही दुःख है, नहीं तो दुःख का कोई काम नहीं है। यह ब्रह्म सुखस्वरूप है "आनन्दम् ब्रह्मरूपम्"। यह खुद सुखस्वरूप है ,इसका क्रियामें रंच भी सम्बन्ध नहीं। बाहरको अपना मानते हैं इसलिए क्लेश होते हैं। बाहरसे दृष्टि हटाओ और अपनी ओर आओ तो उसमें सुख प्राप्त हो सकता है।

अन्यवृन्ते न मे बाधा स्वस्य विकल्पतः।
प्रज्ञयाऽनाश्रयीकृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४५॥

एक यह तो निर्णय कर लो कि हमें जो दुःख पैदा होता है वह क्यों होता है और किस तरह होता है? लोग यह समझते हैं कि अमुकने इस तरहका कार्य किया इसलिए दुःख हुआ, इसने गालीदी, इसलिए दुःख हुआ। अमुकने खेतपर कब्जा कर लिया इसलिए दुःख हुआ। अनेक प्रकारकी बातें मानते हैं। पर दुःख किसी दूसरेके कुछ करनेसे नहीं होता। दुःख होता है अपने विकल्पोंसे। बड़े-बड़े राजा महाराजा अपना राजपाट छोड़ करके वन में चले जाते हैं और बड़े सुखसे वहां रहते हैं। जहाँ खाने पीनेका ठिकाना नहीं, अन्नकी सुविधाएँ नहीं, फिर भी वे अपने आनन्दमें मस्त रहते हैं क्योंकि आनन्द किसी चीजसे नहीं मिलता। आनन्द तो अपनेमें मिलता है। दुःख तो बाह्यपदार्थोंकी प्रवृत्तिसे होती हैं। अपना आचरण खराब

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रखनेमें दुःख होता है। दुःख देने वाला दुनियामें कोई दूसरा नहीं है। अभी किसीके प्रति बुरा ख्याल हो जाय तो उसकी जितनी चेष्टाएँ हैं उसे बुरी लगती हैं। जिससे लड़ाई हो वह अगर दूर खड़ा हो तो उसका खड़ा होना भी बुरा लगता है। उसका कोई मानों काम हो, उसे लगेगा कि यह मेरा बुरा करनेके लिए कर रहा है। दूसरा बुरा नहीं करता है। अपना ख्याल बुरा बना लिया इसलिए बुराई आ गयी। अपना हृदय स्वच्छ हो तो भगवान् प्रसन्न होगा और यदि हृदय मलीन है तो भगवान् दर्शन नहीं दे सकता है। यह मनुष्यजीवन बहुत दुर्लभ जीवन है। ऐसे दुर्लभ नरजीवन को पाकर यदि अपना जीवन तक न बनाया तो भला बतलाओ कि कौनसी ऐसी गति मिलेगी जिसमें अपना सुधार कर लोगे? इस मनुष्यभवको पाकर अपने कल्याणके अतिरिक्त और बातें न सोचो। ऐसी बातें तो पशुपक्षियोंमें भी मिलती हैं। स्त्री पशु पक्षियोंके भी होती हैं, बच्चे होते हैं। मनुष्य खाते हैं तो पशुपक्षी भी खाते हैं। अगर खाने पीनेके लिए अपनी जिन्दगी समझी तो मनुष्यजीवनमें और पशुपक्षियोंके जीवनमें क्या अन्तर रहा? अन्तर तो ज्ञान और धर्म का ही है। यदि ज्ञान और धर्म न किया तो मनुष्यजीवन बेकार है। कोई तत्त्व नहीं निकला। सो ऐसा निर्णय रखो कि चाहे तुम्हारा कोई बिगाड़ कर दे पर तुम किसी को बाधा न पहुंचाओ। बाधा तो तब आयगी जब ख्याल बुरा बनेगा। हमारा ज्ञान सही है, हमारा ज्ञान ढंगका है तो कोई कुछ करे उससे बाधा नहीं आ सकती है। भला बतलाओ कोई ऋषि संत जंगलके अन्दर बैठा है और कोई शेर आदि खा ले या कोई शत्रु आकर उस पर उपसर्ग करे तो उस साधुका ख्याल जरा भी खराब नहीं है। प्रभुमें लौ लगाये है, आत्मस्वरूपमें ही दृष्टि गड़ाए है तो उसको रंच भी बाधा नहीं है। देखने वाले जरूर जानेंगे कि उस साधुको बड़ा कष्ट हो रहा है, पर वहां उसे रंच भी कष्ट नहीं है। क्योंकि अपना उपयोग, अपना ज्ञान अपने प्रभुमें लगा रहा है। ज्ञानरसका पान कर रहा है। इससे यही निर्णय रखो कि हम को दूसरोंसे तकलीफ नहीं होती। यह विचार रहेगा तो जिन्दगीमें आराम मिलेगा। नहीं तो दसों बहाने ऐसे मिलेंगे जिससे क्लेश होते रहेंगे। हमको दूसरे यों बातें सुनाते हैं, कोई मेरी परवाह नहीं करता है, दसों ख्याल करने लगते हैं और अगर यह ख्याल बनाते हैं कि मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं है तो मैं प्रभुकी तरह शुद्ध ज्ञान और आनन्दका पुञ्ज हूं। मैं बिगड़ता हूं तो अपने आपसे ही कल्पनाएँ करके दुःखी हो जाता हूं। मुझे दुःखी करने वाला दूसरा कोई नहीं है। मैं यहां बैठा हूं और शहरमें कोई दुकान है उसमें चाहे हजारोंका फायदा हो गया हो और वातावरण ऐसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सुननेमें आया कि दुकानदारीमें हजारोंका नुक्सान हो गया है, चाहे वहां लाभ ही हुआ हो पर ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते हैं। सो मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं है। मैं ही अपना ख्याल बनाता हूं और दुःखी होता हूं। और चाहे दुकानमें टोटा ही पड़ गया हो, पर यह सुन लिया कि दुकानमें लाभ हुआ, लो सारा दुःख मिट गया। और अगर यह दृष्टि गड़ाए रहे कि नुक्सान हो गया तो दुःख ही मिलते रहेंगे। सो दुःख अपने ही द्वारा मिलते हैं, दूसरोंके द्वारा हमें दुःख नहीं होते हैं—यह निर्णय बनाओ।

स्वाख्येच्छाजाऽन्यनिन्दा स्यात्तस्मान्निन्द्यो हि निन्दकः।
स्वं दृष्ट्वाऽनिन्दकानिन्द्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६—४८॥

मनुष्योंमें सबसे बड़ा अवगुण है दूसरोंकी निन्दा करना। क्या निन्दा करनेसे कुछ मिल जाता है? सबको अपने जीवनमें इसका परिचय होगा। किसीकी निन्दा कर लिया तो तुम्हें क्या मिल जायगा? मिलना तो दूर रहा आपदाएं जितनी चाहें आ सकती हैं। जिसकी निन्दा की जाती है उसमें यदि सामर्थ्य है तो वह आफत डालेगा। जिसने निन्दा की है उसके कानोंमें यह बात आ जायगी कि सम्भव है कि वह आफत डाल सके अथवा किसी उत्तम संतकी निन्दा की हो तो लोगों की दृष्टिमें वह स्वयं बुरा बन जायगा। इस कारण निन्दा करके लाभ नहीं मिलता, आपत्ति ही आपत्ति आती है। सो निन्दक जो पुरुष है वह स्वयं निन्दाका पात्र है। निन्दा जब कोई करता है तब उसको अपने यश और कीर्ति की इच्छा होती है। जब कोई अपनेको बड़ा समझने लगता है, अहंकार उत्पन्न होता है और अपनी मान्यता दुनियामें चाहता है तो कुबुद्धिके कारण इसके दूसरोंकी निन्दा करनेके भाव होते हैं। निन्दा करना मनुष्यका एक बड़ा अवगुण है और जीव तो निन्दा कर नहीं सकते। गाय, बैल, भैंस, सूकर, घोड़ा जो तुम्हारे घरमें है, पड़ौस में हैं, वे क्या निन्दा करेंगे? उनको तो बोल ही नहीं आता है। और भी जीव जितने हैं वे क्या निन्दा करेंगे? मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो बोलता है, अपने भाव दूसरों को बताता है दूसरोंकी बातों को सुनकर उसका अर्थ लगा लेता है। यह बात औरोंमें नहीं पायी जाती है। इतनी बड़ी बात यदि पायी है तो इसका उपयोग करना चाहिए। मनुष्यका वैभव वचन है। वचनों से ही यह समझा जाता है कि यह बड़ा पुरुष है।

एक कथानक है कि राजा मंत्री और सिपाही तीनों कहीं जा रहे थे। रास्तेमें ये तीनों किसी कारणसे ऐसे ही भूल गये कि अलग-अलग हो गये। पहिले सिपाही उस रास्ते से निकला जहां एक अंधा बैठा था। सिपाही ने पूछा कि अबे अंधे! यहांसे राजा या मंत्री कोई निकला है? तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सूरदास कहता है कि नहीं सिपाही जी अभी तो कोई नहीं निकला। बादमें मंत्री निकला तो उस अंधेसे पूछता है कि सूरदास यहांसे अभी कोई निकला है? तो वह बोला कि मंत्री जी सिर्फ एक सिपाही निकला है और कोई नहीं निकला है। बादमें राजा निकला तो पूछता है कि सूरदासजी यहां से कोई निकला है तो वह कहता है कि हां राजा जी पहिले तो सिपाही निकला, उसके बाद मंत्री निकला। यह सुनकर सब आगे जाकर इकट्ठे हो गए? बादमें सूरदास जी की चर्चा आयी कि उस सूरदास ने कैसे बता दिया। सिपाहीने कहा कि मुझे सिपाही बताया, मंत्रीने कहा कि मुझे मंत्री बताया और राजाने कहा कि मुझे राजा बताया। तो वे सूरदासके पास आये। राजा ने पूछा कि हम सबको कैसे जान गये? बोला, महाराज वचनोंसे परख लिया। अबे अंधे जिसने कहा वह छोटा ही व्यक्ति हो सकता है तो मैंने अंदाज कर लिया कि यह सिपाही है। कुछ कोमल वचन जिसने बोल दिया वह मंत्री है। और अंतमें अति कोमल वचन थे तो मैंने समझ लिया कि यह राजा है। मनुष्यका धन वचन ही है। वचनोंसे ही मनुष्य आदर पाता है और वचनोंसे ही जूते खाता है। वचनोंसे ही दूसरोंका आकर्षण रहता है और वचनोंसे ही विमुखता हो जाती है तो मनुष्यका जो एक अनुपम वैभव है जो अन्य जीवोंमें नहीं पाया जाता है, वह वैभव है वचन बोलनेका। सो ऐसी अमूल्य बातको पाकर हम उसका दुरुपयोग न करें। वचन संभाल कर बोलें, वचन प्रिय लगें, ऐसे बोलें, निन्दाकी बात कभी न करें। सो अपने आपके स्वरूपको तो देखो कि इसका स्वरूप न तो निन्दा करनेका है और न दूसरे जीव इसकी निन्दा करने योग्य हैं। ऐसा यह मैं अनिन्दक हूं, आनन्दमय हूं। ऐसे शुद्ध ज्ञानस्वभावको अपने उपयोग में लेकर अपनेमें सुखी होना चाहिए। निन्दाकी बात तो अपने जीवनमें बिल्कुल दूर कर दो। संकल्प करलो चाहे कैसी भी स्थिति आये, पर दूसरों की निन्दा न करो। एक यह ही गुण मनुष्यमें आ गया तो आदर का पात्र बन जायगा।

सर्वे समाः समे मैत्री मैत्र्या शान्तिर्मतेह च।
सुखं सास्थ्यं हि तत्स्वास्थ्ये स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–४९॥

जितने जीव हैं सब समान हैं। किसी जीवका स्वरूप मुझसे बढ़कर हो या मुझसे कम हो ऐसा नहीं है। सब जीवोंका स्वरूप एक चैतन्यमात्र है। कीड़ा हो, पतंगा हो, पशु हो, मनुष्य हो सबका स्वरूप एक समान है। और मित्रता समानमें ही होती है। जगत्के जीव यदि मित्रता चाहते हैं तो उनको पहिले अपनी दृष्टि पवित्र बनानी होगी, जिससे सब जीव समान दीखें। एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रूप ही दीखे। यदि मैत्रीका रूप है तो दुःख नहीं उत्पन्न होता। ऐसा भाव बनाओ कि किसी जीव को दुःख न उत्पन्न हो। ऐसा परिणाम ही मैत्रीभाव कहलाता है। सो मैत्री परिणाम होगा तो शांति आयगी और यदि अपनेमें अहंकार की बुद्धि हुई तो उसमें अशांति ही होती है। इसका परिणाम क्या हुआ कि समता परिणाम ही सुख है? सब जीवोंमें समताकी बुद्धि हो तो उसके फलसे अपने आपकी दृष्टि रह सकती है। और जब अपने आपकी दृष्टि हो तो उसमें ही शांति मिल सकती है। सब जीवोंको एक शुद्ध चैतन्य-मात्र निरखो। किसीके अगर ऐब आये हैं तो जानों कि इस जीवपदार्थमें ऐब नहीं है। कर्मोदय इस जाति का है कि इसमें दुराचार अथवा कोई अवगुण आ गया है। यह तो अनन्तज्ञानस्वरूप पवित्र पदार्थ है। ऐसी दृष्टि सब जीवोंके प्रति होनी चाहिए। बालक हो, तुच्छ हो, छोटी जातिका हो, किसी भी प्रकारका जीव हो, यहां तक कि पेड़ोंको भी देखकर ऐसा विचार करो कि इन पेड़ोंमें भी जो जीव है, वह पदार्थ भी मेरे स्वरूपकी तरह है। यह पर उपाधिकी, अन्य उपाधि की वजहसे जैसा इसका कर्म है उसके अनुसार इस जीवको देह मिली है और इसकी रचना हुई है। है तो यह जीव मेरे ही जीवके समान। ऐसा परिणाम सब जीवोंके प्रति रखो तो उससे दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेका भाव न रहेगा और इससे बढ़कर क्या पवित्र हृदय कहा जायगा? जिस हृदयमें यह भाव आ जाय कि किसी भी प्राणीको क्लेश न हो। इस भावके फलमें आत्मामें शांति उत्पन्न होती है।

इष्टे न हर्षभावश्चेदनिष्टे स्यान्न खेदता।
रुन्ध्वेष्टेच्छां स्वबोधेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५०॥

इष्ट पदार्थोंके संयोगमें यदि हर्षभाव न होवे तो रहने पर उसका खेद नहीं होगा। गृहस्थ जीवनमें गृहस्थीकी ये दो बड़ी तपस्याएं हैं कि एक तो जो समागम मिला है, इष्ट, प्रिय, आज्ञाकारी, मनपसंद जो समागम प्राप्त हुए हैं उनके प्रति ऐसा विश्वास रखो कि ये सबके सब कभी न कभी जरूर अलग होंगे और जब तक हैं भी तब तक ये परपदार्थ हैं। इनसे मेरेको आनन्द नहीं हो सकता है। आनन्द तो मेरे ज्ञानसे होता है। ये समागम अवश्य वियुक्त होंगे। ऐसे इष्टपदार्थोंके सम्बन्धमें सोचो तो जब तक उन पदार्थोंका सम्बन्ध है, जब तक उन पदार्थोंका समागम है तब तक इस जीवको हर्षका अतिरेक नहीं होगा। जब किन्हीं इष्टपदार्थोंमें आसक्ति न होगी तो वियोग होने पर क्लेश न होगा। सो सबसे बड़ी तपस्या जो गृहस्थी में बता रहे हैं उनमें सबसे बड़ी तपस्या यही है कि इष्टपदार्थोंमें ऐसी बुद्धि रखकर कि ये भिन्न हैं, कभी मिट जायेंगे, उनमें हर्ष न मानो।

Version 1

आसक्ति न करो। और दूसरी तपस्या यह है कि गृहस्थके पुण्यके उदयके कारण जो कुछ भी मिलता है, जितना भी लाभ होता है, जितना भी द्रव्य प्राप्त होता है उसमें संतोष रहे क्योंकि जगत्के अनेक पुरुषों पर दृष्टि दो। किसीके पास २०–२५ रुपये महीने तकका रोजगार न हो और अपना गुजारा करता है। इसमें कोई सीमा नहीं कि हमको कितनी आमदनी हो तो शांति हो। धनके हिसाबमें संतोष नहीं होता। जो भी पुण्योदयसे प्राप्त होता है उसमें ही संतोष रहे और उसमें ही सब विभाग बनालें, उससे आगेकी वाञ्छा न करो। किसी भी वस्तुसे मुझे हानि नहीं है, ऐसा विश्वास करके परिग्रहकी चिन्ता नहीं करना चाहिए। यह बड़ा तप है। जिसके कारण गृहस्थ जीवनमें भी रहकर सुखी हो सकता है। और इसके विरुद्ध परिणाम हो जाय याने जो इष्ट पाया है उसमें आसक्ति हो रही है तो सब कुछ यही है कि दुनियांकी लीलाको बिल्कुल भूल गये। अपना आगा पीछा सब भूल गए। एक आसक्ति है धनमें, स्त्रीमें, इज्जतमें, यदि इतना मोह बढ़ गया, आसक्ति हो गयी तो आप समझलें कि पग-पगमें ठोकरें खानेको मिलेंगी, क्लेश होंगे और भुगत भी चुके होंगे। इसी तरह दूसरी बातोंके विरुद्ध परिणाम हो जाय अर्थात् परिग्रहकी लालसा ही करते रहे तो इस लालसाका परिणाम आप समझते हैं कि कभी सुख नहीं हो सकता। जो कुछ पाया है उसका भी आनन्द न पा सकेंगे। इससे गृहस्थको इन दोनों बातोंसे कभी न हटना चाहिए और अगर हटते हैं तो नियमसे दुःख होगा। इष्ट पदार्थोंमें यदि हर्ष भाव नहीं होता है तो अनिष्ट भावमें उसे खेद नहीं होता है। तब क्या इन दो बातोंके लिए करना है कि अपने आत्माके ज्ञानके प्रसादसे इष्टकी इच्छा रोककर मनको संयत करके अपने आपमें अपना आनन्द प्राप्त करो। इष्ट वह कहलाता है जो अपनेको सुहावना लगता है। जिसमें अपनी प्रीति जगती है उसमें जो इच्छाएँ बढ़ रही हैं उनका रोक करो। आसक्त होकर एकदम विषयोंमें न लग जावो। एक-एक प्राणी एक-एक इन्द्रियोंके वशमें होकर प्राण गंवा देता है। स्पर्शन इन्द्रियके वशमें हाथीका उदाहरण प्रसिद्ध है। हाथी इसी तरह गढ़में पड़ता है कि फांसने वालोंके द्वारा एक झूठमूठकी हथिनी बना ली जाती है, उसमें आसक्त होकर वह हाथी आता है और उस गढ़में गिर जाता है। रसना इन्द्रियके वशमें मछली अपने प्राण गँवा देती है। मछली पकड़ने वाले लोग किसी गंदी चीजको कांटेमें लगा देते हैं तो उस कांटेमें आकर वह मछली फंस जाती है। घ्राण इन्द्रियके वशमें भ्रमर कमलके फूलमें अपने प्राण गंवा देता है। चक्षुइन्द्रियमें पतंगोंका उदाहरण आता है। दीपकको पाकर पतंग अपने प्राण गँवा देते हैं। कर्ण इन्द्रियसे सांप

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पकड़ा जाता है। सांप राग रागनीका बड़ा शौकीन होता है। जब बीन बजती है तो सांप एकदमसे कहींसे फंस जाता है। अब जरा मनुष्यको देखो, किस इन्द्रियमें कम बन रहा है। मनुष्यकी पांचों इन्द्रियां एकदम आगे बढ़ रही हैं। जो मनुष्य पांचों इन्द्रियोंके वशमें है उस मनुष्यको दुःखसे बचा सकने वाला कोई है क्या? कौन बचा सकता है? सो एक यही जिम्मेदारीका भव है। इसमें यों ही उपेक्षा न करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करो। संयम करो, चारित्र बनाओ, आचरण पवित्र रखो। एक भी व्यसन न आ सके, एक भी बुरी आदत न आ सके, इसलिए अच्छा सत्संग बनाओ। प्रभुकी भक्तिमें विशेष समय लगावो अपने आप ज्ञान जगेगा और इस ज्ञानकी विभूतिसे वैराग्य बना रहेगा और अपने आपमें वैराग्य बना रहेगा। यदि अपने आपमें वैराग्यकी पूंजी है तो आप संकटोंसे बच जायेंगे। यदि ज्ञान वैराग्य का वही है तो संकट अनेक आते ही हैं। अभी कोई बीमार हो, कभी कोई गुजर गया, किसीने निन्दा कर दी इत्यादि अनेक बाधाएँ इस गृहस्थावस्था में आती हैं। यदि ज्ञान और वैराग्यमें कुछ बल नहीं है तो हर जगह यह जीव दुःखी होता है। ऊपरी बातें करनेसे शांति न मिलेगी। भीतरमें यदि ज्ञानकी बात जगती है और उसही के कारण वैराग्य कुछ बनता है तो इसे शांति मिलेगी, धैर्य प्राप्त होगा अन्यथा यह अधीर होकर ही अपना समय गुजर गया। सो ज्ञानका आलम्बन लो, इष्टका हर्ष न मानो, अनिष्टमें खेद न मानो, ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहो और अपने सुख का उपभोग करो।

आत्मरूपेऽन्ययोगो न वियोगस्य च का कथा।
कथं हस्याणि खिन्दानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–५१॥

इस आत्माका स्वरूप जगत्के सब पदार्थोंसे जुदा है। पदार्थ जितने होते हैं वे सब जुदे-जुदे होते हैं। किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपने रूप ही हैं। तब यह मैं आत्मा अपने अनन्तानन्त गुणोंसे तन्मय हूं। मुझमें किसी दूसरी चीजका प्रवेश नहीं है। तब फिर वियोग की बात ही क्या कहना है? अर्थात् उसका न तो इष्टका संयोग होता है और न वियोग होता है। मैं तो अपने में अकेला हूं। पर हम आप सोचते रहते हैं कि ये अच्छे हैं, ये मेरे पास हैं, ये बुरे हैं। इन सब बातोंके सोचनेसे तो वियोग जरूर होगा। परद्रव्य रहें चाहे न रहें, उनसे मेरी आत्मामें कुछ नहीं गुजरता। पर हम आप कल्पनाएँ करके सुख दुःख मानते हैं। किसी चीजको पाकर हम हर्ष मानते तो यह मूढ़ता है मेरी कि नहीं? जब कोई चीज मेरी है नहीं तो उसको पाकर खुश होना यह मूढ़ता है कि नहीं? इन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इन चीजों का वियोग होगा तो दुःख होगा। यह सब मोह का जाल है जो अपने आपके स्वरूपका ज्ञानी है वह न संयोगमें हर्ष मानता है और न वियोगमें दुःख, वह तो हमेशा ज्ञाता द्रष्टा रहता है। कभी किसी मनुष्यकी ऐसी प्रकृति देखी होगी कि वे परवाह नहीं करते हैं। कुछ भी आवे या जावे। शिवपुरीमें, ग्वालियर जिलेमें एक गाँव बदवां है। वहाँ एक जैनी छोटासा हलवाई दूकानदार था। उसका इकलौता लड़का जवान अचानक गुजर गया तो गाँवके सभी लोग दुःखी हो गये कि हाय देखो उसका एक ही सहारा था, इकलौता लड़का था, गुजर गया। लोग उसके घरमें आये समझाने को और वहां देखा तो बाप प्रसन्न है। उसके जरा भी विषाद नहीं। लोग बोले कि तुम्हें जरा भी दुःख नहीं तो वह बोला कि दुःख क्यों हो? वह अपनी आयुसे रह रहा था और आयु पूरी हो गयी तो चला गया। हम तो अपने विकल्प करके फँसे हुए थे सो, अब प्रभुभजनमें हमको स्वतन्त्रता मिल गयी। बहुतसा भार हट गया। तो जो ज्ञानी होता है वह न संयोगमें हर्ष मानता है और न विषादमें दुःख। नहीं तो गृहस्थीमें दुःख क्या है बतलाओ? सिवाय इष्ट अनिष्ट बुद्धिके और कोई क्लेश नहीं है। संयोग वियोग सुख दुःख मानकर बहिर्मुखता बनाकर अपनी आत्माको भूल कर विकल्प बनानेमें पड़ गये, यही तो दुःख है। सो जो ज्ञानी गृहस्थ होगा वह इस झँझटोंमें न पड़ेगा। वह तो उपासक मुनि धर्मका होता है। उसे ये सब जगजाल दिखते हैं और चाहते हैं कि हम इस जालसे कब निकलें? ऐसी बुद्धि ज्ञानी गृहस्थके होती है सो कैसी भी परिस्थिति गुजरे वह अपनेको विह्वल नहीं करता है। ज्ञानीके यह ज्ञान है कि मैं तो समस्त बाह्यपदार्थोंके संयोग वियोगसे परे हूं। इस मुझमें जो तरंग उठती है उससे मैं जुदा हूं। इसलिए न किसी स्थितिमें हर्ष मानूँ और न किसीमें विषाद और समता परिणाम रखकर ज्ञानस्वरूपका अनुभव सम्वेदन करता हुआ अपनेमें स्वयं सुखी होऊँ।

कल्पितेऽर्थेऽनुतर्केऽशं शमन्वर्थं च कल्पिते।
स्वतन्त्रोऽर्थो हि सर्वोतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५२॥

पदार्थोंका स्वरूप है कि वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहें। पदार्थ हैं और निरंतर परिणमते रहते हैं। उन पदार्थोंमें अपनी कल्पनाके अनुसार परिणमन का विचार करनेसे तो क्लेश होते हैं और जैसे वे पदार्थ हैं उनके स्वरूप के अनुसार अपना ज्ञान बनानेसे सुख मिलता है। जैसे परिवारमें ही जैसे अपनी इच्छा है—इस तरहसे ये लड़के बनें, परिणमें, काम करें, ये सब घर के लोग, मित्र लोग मंशामाफिक चलें, ऐसा जब ध्यान होता है तो दुःख

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिलता है क्योंकि इच्छाके अनुसार वैसे तो बन जायेंगे नहीं। इनका जैसा कषाय होगा, जैसा परिणाम है वैसी ही उनकी परिणति बनेगी। आप प्रतिकूल परिणति मानकर अपने हृदयमें दुःखी रहेंगे और जैसा उनका स्वरूप है इस तरह जानेंगे तो आपको क्लेश नहीं हो सकता। जानोगे कि सब जीव हैं, स्वतन्त्र हैं, अपने अपने कर्मोदयके अनुसार भिन्न भिन्न गतियों को त्याग कर यहां इकट्ठा हो गये हैं, उनकी परिणति जुदी है, इनका स्वामित्व इनमें ही है, इन पर मेरा कोई अधिकार नहीं है— ऐसा जब यह जानता है और अपने विचारों को परपदार्थोंके स्वरूपके अनुसार बनाता है तो कोई कैसा ही परिणमें उसे क्लेश नहीं हो सकता। जैसा पदार्थ है उसके अनुकूल तुम्हारा विचार बने तो सुख होगा और जैसी तुम्हारी कल्पना है उसके अनुकूल पदार्थ परिणमें तो उसमें क्लेश होता है। इस तरहसे निहारो कि सब पदार्थ हैं, अपने आप अपनेमें वे अपनी दशा बनाते हैं। किसीके कारण किसी और में कोई दशा बनती नहीं है, इस तरह ही निरखो तो फिर वहां क्लेश नहीं हो सकता। क्लेश तो हम स्वयं ही बनाया करते हैं। जैसे और पदार्थ हैं वैसे यह आत्मा भी एक पदार्थ है। इसमें क्लेशों का काम क्या? यह तो स्वभावसे ज्ञाता और आनन्दस्वरूप है। अपने स्वरूपमें अपना उपयोग न लगाने से नाना विरुद्ध धारणायें बनती हैं, उन कल्पनाओंके कारण यह क्षोभ उत्पन्न होता है। यदि वे कल्पनाएँ दूर हों तो अशांति दूर हो। सो शांतिके लिए बड़ा भारी प्रयत्न करते हैं, धन कमानेका, मकान,दूकान बनाने का, बच्चोंके पालन पोषण का। किन्तु अपने आपको यदि ज्ञान मिले स्वाध्याय के द्वारा, किसी पंडित, गुरुजनोंके उपदेशके द्वारा तो उपयोग बने, वस्तु स्वरूपकी स्वतन्त्रता अपनी दृष्टिमें बनी रहे तो वहां किसी प्रकारका क्षोभ नहीं हो सकता है। क्षोभ मिटानेका कारण, क्लेश दूर होनेका उपाय ज्ञान है। ज्ञानके बिना क्लेश दूर हो ही नहीं सकते हैं। इसलिए ज्ञानके अर्जनमें आलसी मत बनो और कामका आलस्य आ जाय तो आ जाय, मगर अपने ज्ञानका आलस्य न आना चाहिए। ज्ञान ही अपना असली धर्म है। अपने ज्ञानकी दृष्टिमें प्रमाद मत करो। कमसे कम एक घंटा किसी आध्यात्मिक ग्रंथके स्वाध्यायके मननमें लगाओ, अपनी आत्माको ज्ञानसे सींचो ताकि यह आत्मा आनन्दसे भरपूर हराभरा हो जाय। क्योंकि जो मोहकी बात है वह सब बुद्धि उत्पन्न करती है। जगतके जीव सब चैतन्य हैं। उनसे आपका क्या सम्बन्ध है? मगर मान रखा है कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा कुटुम्ब है और इतना ही नहीं, किन्तु उनको खुश करनेके लिए बड़ेसे बड़े नृत्य करते हैं। लोकमें और भी जीव हैं, उनको खुश करनेका क्यों यत्न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं करते हो ? जैसे और जीव हैं तैसे ही घरमें बसे हुए जीव हैं। मोहका पर्दा ज्ञानकी आँखोंके आगे बँधा हुआ है। वे सब जीव इस एक स्वरूपका दर्शन नहीं करने देते। अनन्तजीवोंमें से दो चार जीवोंकी छटनी कर लिया कि ये मेरे हैं, बस इनके लिए ही सारा श्रम करते हैं, अपनी सुध भूल जाते अपनी शांति का यत्न नहीं करते हैं। सो जब तक अपना उपाय न बदलेगा तब तक शांति का दर्शन नहीं हो सकता है। सो अपनी कल्पनाओंमें न दौड़ो और अपनी कल्पनाओंके माफिक परमें परिणमन हो ही जावे ऐसा हठ मत करो। सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं। जैसा सहज संयोग बनें उसके ज्ञाता दृष्टा रहो तो यह उपाय शांतिका है।

हृद्य साम्यं रतौ मोहे तस्माज्ज्ञायकरूपिणम्।
जानन् मुक्त्वा रतिं मोहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५३॥

राग और मोह होने पर हृदयमें समता नहीं रहती। अभी दो सगे भाई हैं, बड़े हो गए, विलग हो गए, अब अपने बालकमें राग हुआ तो समता खतम हो गई। अब भाईसे वह आत्मीयता नहीं रही। अब जानने लगे कि ये मेरे लड़के हैं। ये दूसरोंके लड़के हैं। इस प्रकार मेरा और दूसरे का उनमें भाव आने लगा। उनके समता कहां रह सकती है ? बाजारसे यदि अमरूद भी खरीद कर लाओ, भाईका लड़का और तुम्हारा लड़का अगर दोनों ही सामने आ जायें तो उन दो अमरूदोंमें से विचार करते हैं कि कौन अच्छा और बड़ा है, अपने लड़केको दे दें और छोटा या रद्दी कौन है दूसरे को दे दें। तो देखो दो पैसे की चीजमें ऐसी बुद्धि हो जाती है। जब राग और मोह सताता है तो हृदयमें समता नहीं रहती। पर अपने पवित्र स्वरूप को तो देखो। कहां तो प्रभुके समान शुद्ध ज्ञानानन्दके स्वभाव वाला यह आत्मतत्त्व और कहां कहां इन बाह्य दो चार जीवोंमें ऐसी मोहकी दृष्टि लग जाना-यह इस मुझ पर महान् संकट है। इस अज्ञानको छोड़ो ज्ञायक-स्वामी ज्ञानानन्दमात्र अपने आपको जानो और ज्ञानबलसे बाह्यपदार्थोंके विकल्प छोड़ते हुए अपने इस सामान्य ज्ञानानन्दमें आयें और निस्तरंग निर्विकल्प हो जायें, यही शुद्ध आनन्दके अनुभवका उपाय है। जो ऐसा नहीं कर सकता, बाह्यपदार्थोंमें ही आसक्ति होती है, वह निरंतर क्लेश ही भोगता रहता है, वह आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता। परिग्रह की बुद्धि लगी है, चैनसे नहीं है, दिमाग उन्मत्त है, धर्मकी बात, धर्म का श्रद्धान नहीं समाता है। गेंदकी तरह उछलता रहता है। कभी इस पदार्थमें लगे, कभी उस पदार्थ में लगे, इससे ही क्लेश पाते रहते हैं। सो राग और मोहको त्यागकर ज्ञायकस्वरूप अपने तत्त्वमें जगो, वस्तुस्वरूपको जानकर ज्ञाता दृष्टा रहो, यही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हितका मार्ग है। यह आत्मा किसी भी परपदार्थमें कोई सुधार बिगाड़ हेर फेर नहीं कर सकता। क्योंकि इसकी गति परस्वरूपमें है ही नहीं। जो कुछ वह कर सकता है, मात्र अपने स्वरूपका परिणमन कर सकता है। दूसरों का यह बुरा नहीं कर सकता है—ऐसा भाव बनाना आवश्यक है। बुरा करने का अधिकार नहीं है। दूसरोंका यह भला नहीं कर सकता है। इसका भला हो जाय, ऐसा भाव बनाना आवश्यक है। तो हमारी और आपकी भाव बनाने तक की ही गति है। इसके आगे तो हम आप कुछ नहीं कर सकते। तब आप ही बुरे भाव क्यों बनाएँ ? जब आप ही बना पाते हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाते तो फिर भाव बुरे क्यों बनाएँ ? अच्छा भाव बनाएँ जिससे स्वयं को शांति प्राप्त हो और दूसरे जीवोंको भी लाभ हो। अपने निमित्तसे किसीको अशांति नहीं प्राप्त होती है। एक ज्ञानस्वरूप ज्ञानमात्र अपने आत्माको जानता हूं, इसमें ही अपना भाव जमाता हुआ मैं शुद्ध आनन्दस्वरूप का अनुभव करूँ और कर्म कलंकसे दूर होऊँ, जन्ममरणके बन्धन दूर करनेका पुरुषार्थ करूँ।

यस्मिन् साम्ये विनष्टाः स्युराशा साम्यं सदास्तु तत्।
साम्येन सहजानन्दः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५४॥

समता परिणामके होने पर आशा नष्ट हो जाती है तो वह समता मेरे सदा रहे। हम और आपको दुःखी करने वाली चीज आशा है। अब देखो आप अपने आत्मामें ही बस रहे हो, आत्माको छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाते, मगर यहीं बसे-बसे बाहरी पदार्थों की आशा बनाते हो और दुःखी हो जाते हो। चीजें तो आपकी कुछ भी नहीं हैं। जो चीजें पासमें हैं वे भी नष्ट हो जायेंगी, साथ में न रहेंगी तो फिर अभीसे आशा छोड़ दो। आशा जब उत्पन्न होती है तब इस आत्मामें बड़ा क्लेश होता है। आशा दूर करो और समता परिणाम बनाओ, इसके प्रसादसे शाश्वत सहज आनन्दका अनुभव करो। यह आशा कैसे दूर हो ? जब बाह्यपदार्थ मेरे हितकर नहीं हैं प्रत्युत अहितकर हैं, ऐसा ज्ञान जगेगा तो उन परपदार्थों की आशा दूर होगी और जब तक चित्तमें यह बना है कि स्त्री से हमारा हित है ऐसी दुर्बुद्धि जब तक रहेगी तब तक क्लेश ही रहेंगे। इससे तो यदि आप चाहें कि आशा खत्म हो जाय, आशाका विनाश हो जाय, तो ऐसा नहीं हो सकता है। सो उस सम्यग्ज्ञानके उपयोगसे आशा को दूर करो। कब तक जिन्दगी है और कितनी उमर हो चुकी है, अबतक बहुत आशाकी है पर आशा करके क्या आज आप सुखी हैं ? आप दुःखी तो नहीं नजर आते। आशा सुखका कारण नहीं है। सूरदासजी ने लिखा है कि "आशा नहिं मरी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अब तक" शरीर मर गया, मन मर गया, थक गया पर आशा तो बढ़ती ही जा रही है। अब वृद्ध अवस्था है, बुढ़ापा है मगर आशा और बढ़ती ही जाती है। काहे की बाबा आशा रखते हो, कुछ समय बादमें तो मरण होने वाला है, यहांके सारे समागम छूटने वाले हैं। अब मनमें किस बातकी आशा बनाए हो? आशाको त्याग दो और अपनेमें विश्राम पावो। यह आशा आराम नहीं लेने देती। मनको भ्रमाये रहती है। यहां जाना, वहां जाना, वहां कष्ट, उनको भी कष्ट, इस तरहसे अपना प्लेट फार्म बनाए अपना तंत्र बनाए, कितने प्रकार की इनके आशा लगी हुई है। इन खोटी कल्पनाओं के कारण परमात्मतत्त्व तिरोहित है, छिप गया है, जिससे आनन्द प्रकट होता है वह कुचल गया है। केवल एक अपराधके कारण कि बाह्यपदार्थों की उसने आशा लगा रखी है। बाह्यपदार्थों की आशा त्यागो तो अपने आपमें ज्ञानस्वरूपका अनुभव होगा और अपने आपके ज्ञानरस का स्वाद आए तो तीन लोक का वैभव नीरस लगने लगेगा। इसमें फिर रस नहीं आ सकता। यह भव आ गया, कब उसे छोड़ें? देखो पुराने समयमें ऋषिगण हुए हैं, बड़े-बड़े राजा महाराजा हुए हैं, बड़ा वैभव त्यागकर वे ज्ञानरसके लिए उत्सुक हुए थे। और यहां इस वैभवमें इतनी ममता, इतनी आसक्ति है कि धर्मकी बात व ज्ञानके स्वरूपको समझाने का उत्साह ही नहीं जगता। तो उन पुरुषोंमें और आपमें कितना अन्तर हो गया? परम्परासे हम उन धर्मात्म पुरुषोंके पुत्र कहलाए। उस धर्मपरम्परासे हम वीतराग सर्वज्ञ देवके पुत्र हैं। हम उनके कुल को न बढ़ायें। अपने विषय कषायोंसे अपने परिणाम मलिन बनाते रहें तो हम उनके पुत्र कहलानेके क्या अधिकारी हैं? हम उनके समान बनें तो उनके सपूत हैं। सो आशाको त्यागकर समता परिणाम को लायें और अपने सहज आनन्द का अनुभव करें।

श्रद्धावृत्तं श्रुतं ज्ञानं सत्यं साम्यं भवेद्यदि।
तदेव स्वसुखं स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५५॥

यह श्रद्धा, यह चारित्र, यह आगम का अभ्यास, यह ज्ञान जब हमारा सत्य है तब मेरे में समता परिणाम जगे। बड़े परिश्रमसे तो कोई रसोई बनावे और रसोई बनाकर मूर्खतासे, पागलपनसे या किसीसे लड़ाई लड़ झगड़कर बादमें कूड़ेमें फेंक दे तो आप उसके भोजन बनानेके पुरुषार्थ को क्या सच्चा काम कहेंगे? क्या आप बेवकूफी न कहेंगे? इसी प्रकार जितनी श्रद्धा है, चारित्र है, ज्ञान है ये सब किस लिए किए जाते हैं कि मेरे में समता पैदा हो। और धर्मके इतने कष्ट सहकर भी चित्तमें समता परिणाम न लाना चाहते हों तो उसे विवेक नहीं कहा जायगा। वह सब असत्य है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जैसे अरद्धा सेठसे ८ सेठानियों की बात हुई थी। सेठ ने रानियोंसे पूछा कि तुम्हें कैसे सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ ? जरा अपनी कहानी तो बतलावो। तो बड़ी सेठानीने सम्यक्त्व की कहानी कही। उसने कहा सच है मगर छोटी सेठानी ने कहा झूठ। सब सेठानियों ने अपने अपने सम्यक्त्व की कहानी कही तो सबने कहा सच है और छोटी सेठानी ने कहा झूठ है। इन बातों को राजा मकानके पीछे खड़ा सब सुन रहा था। पहिले राजा लोग प्रजा का सुख दुख जानने को रातमें गश्त लगाया करते थे। जब राजा ने यह हाल अपने आंखों देखा तो सोचा कि कल सुबह होने दो। सबह सेठानी को बुलाऊँगा और पूछूँगा कि इन सब कथाओं को तूने झूठ क्यों कहा ? कुछ कथाएँ राजा पर गुजरी हुई थीं। जब सुबह हुआ तो राजा ने बड़े सम्मानसे छोटी को बुलाया और पूछा कि रात्रिमें जो सम्यग्दर्शन की कहानी हो रही थी सो तू झूठ क्यों कहती थी ? कहा सच तो है। तो छोटी सेठानी ने मुखसे तो कुछ उत्तर नहीं निकाला और सब गहने आभूषण और कपड़े आदि उतारकर केवल एक साड़ी पहिनकर वहांसे जंगलके लिए चल दी और यह कहा कि महाराज वे सेठानियां केवल बातें कर रही थीं, उसको व्यवहार में तो नहीं ला रही थीं। सच तो यह है कि जैसे हमें भाव उत्पन्न होते हैं, वे तो केवल बातें ही बातें थीं। समता परिणाम उत्पन्न होता है तब तो श्रद्धान सच्चा, ज्ञान सच्चा, बाह्यदृष्टियां सच्ची और समता अगर नहीं जगती तो इस जगतके बाह्यपदार्थोंमें यह छटनी बनाए रखते हैं कि यह मेरा है, यह दूसरे का है, सब अलग अलग। विश्वके समस्त पदार्थों में अत्यन्ताभाव है, कुछ भी सम्बंध नहीं है। फिर भी द्वैत बुद्धि बने तो वह ज्ञान असत्य है, वे सारी क्रियायें असत्य हैं। धर्मका काम तो अपने आपके आत्मा ही में लीन होने के लिए होता है। सो समता परिणाम जगे, उस ही में सत्य आनन्द है और वही आत्माका सुख है, वही आत्माका वास्तविक स्वास्थ्य है। जब तक अपने आपका आत्मतत्त्व अपने उपयोगमें दृढ़तासे स्थित न हो जाय, तब तक कर्म नहीं कटते। जन्ममरणका संसार नहीं छूटता। यदि संसारसे मुक्त होना चाहते हो तो अपने आपके स्वरूपको अनुभवमें लो। अपने इस पवित्र ज्ञान सिंहासन पर मलिन परिणामों वाले संसारजनोंको मत बिठाओ। स्त्री पुत्रादिक सम्बन्धी जनोंको अपने ज्ञान सिंहासन पर मत बिठाओ। उनके ज्ञाता दृष्टा रहो और अपना यह उपयोग-सिंहासन प्रभुके विराजमान करनेके लिए सदा स्वच्छ साफ केवल बनाए रहो। जब जब ज्ञानमें प्रभुका स्वरूप आता रहेगा तब तब इस जीवके कर्म कलंक दूर होंगे और मुक्तिके मार्गका अनुभव होगा। मोक्षका जो आनन्द है वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्माके शुद्धस्वभावका ही आनन्द है। कहीं दूसरे पदार्थोंका आनन्द नहीं है। आनन्द जो यहां भरा हुआ है उस आनन्दको खोलकर यह उपयोगमें न ला सके वही आनन्द है, वही मोक्षका मार्ग है। मोक्ष कोई न्यारी चीज नहीं है। जो ज्ञान और आनन्द दबा पड़ा है वह ज्ञान और आनन्द विकसित हो गया इसीका नाम मोक्ष है। पर ऐसा पुरुष जो अपने ज्ञान और आनन्द का पूर्ण विकास कर लेता है उनके कर्म तो रहते नहीं। शरीर और कर्मों का सम्बन्ध इस आत्मामें, इस संसारमें या उस स्थानसे नीचे रोके हुए है। सो जब रोकने वाले कर्म और शरीर न रहें तो यह आत्मा मोक्ष स्थानमें पहुंच जाता है। पर उस मोक्षस्थानमें अनन्त निगोदिया जीव भी भरे हैं, जहां सिद्धप्रभु विराजमान है। उन निगोदिया जीवोंमें ऐसे ही निगोदिया जीव हैं जैसे कि ये निगोदिया जीव हैं। इसलिए किसी खास स्थान पर पहुंचने से आनन्द नहीं किन्तु अपने शुद्ध ज्ञान और आनन्दके विकासमें आनन्द है और इसही सिद्धस्वरूपके विकासका नाम मोक्ष है।

दृश्यं नश्वरं सर्वं दुःखमूलं पृथक् हि तत्।
निन्द्यं हेयमदस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–१॥

इस संसारमें जितने भी पदार्थ दृश्यमान हैं वे सब विनाशीक हैं और अपनेसे बिल्कुल जुदा हैं। साथ ही वे दुःखोंके मूल कारण हैं। देख लो, जितना जो कुछ दीखता है, विनाशीक है या नहीं? जो कुछ दीखता है वह सब नष्ट होगा कि नहीं? पहिले तो इसीका विचार करो। जो भी मिला है वह पदार्थ हेय है या उपादेय? हेय है, त्यागने योग्य है, तो जो विनाशीक चीज है उसमें प्रीति करने से अहित ही है। उससे कुछ सम्बन्ध नहीं। विनाशीक आवश्यम्भावी है। जिसका विनाश जरूर होगा उसमें प्रीति करो तो हित नहीं है। इसी कारण ये सर्व समागम मेरे लिए निन्द्य हैं। इन समागमोंमें प्रीति करने से हित नहीं है। यह जो कुछ दिखता है सब मायारूप है। मायाका अर्थ है जो परमार्थ तो नहीं है मगर है जरूर, उसका नाम माया है। अगर यह परमार्थ हो तो सदा काल टिका रहना चाहिए था, सदा नहीं रहेगा इस कारण यह परमार्थ नहीं है। किन्तु परमार्थभूत पदार्थके मेलसे बना हुआ यह मायारूप है। तो जितनी भी माया है वह सब नष्ट होने वाली होती है। परमार्थस्वरूप एक अविनाशी है सो चेतनतत्त्व तो जीव अविनाशी है और चेतनतत्त्वमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य अवस्थित हैं, और पुद्गलमें परमाणु अवस्थित हैं। दिखनेमें जीव तो आता नहीं क्योंकि वह अमूर्त है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य ये भी दिखनेमें नहीं आते, क्योंकि ये भी अमूर्त हैं। दिखनेमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पुद्गल ही आ सकते हैं। सो पुद्गलमें जो परमार्थभूत है वह भी दिखनेमें नहीं आता। अनन्तपुद्गलपरमाणुवों का जो पिण्ड है ऐसा यह मायामय स्कंध दिखनेमें आता है तो इन मायामय पदार्थोंकी प्रीति करनेमें हित नहीं है। किन्तु मोही जीवोंको इस मायासे ही प्रेम लग रहा है और इतना घनिष्ठ प्रेम लगा लिया कि आत्मकल्याणकी बात भी कुछ समझ नहीं सकता। आत्म-हितकी रुचि ही नहीं है। जो कुछ है सो परिवार है। धन वैभव है, बस इन्हीं की उन्नति की चिंता रग-रगमें बसी हुई है। दूसरे जीवोंका तो कुछ मूल्यही नहीं आंकता है। जो कुछ है तो घरके लोग हैं, ऐसा ये मोही जीव अपना परिणमन बना रहे हैं। सो इन विनाशीक ठाठबाटोंकी प्रीति करनेमें कुछ भी भलाई नहीं है। फिर ये चीजें सब पर हैं। परका आश्रय करनेसे, परकी ओर दृष्टि लगानेसे आत्माको शांति मिल ही नहीं सकती। परपदार्थोंकी दृष्टि आकुलताओं का निमित्त ही बनेगी। शांति तो स्वाश्रित चीज है, यह दृश्य-मान जगजाल मुझसे न्यारा है, इस कारण निन्द्य है, हेय है। जिस समय अपना उपयोग अपने आत्मामें आजाय तो यह सारा मायाजाल भी बना रहे पर उससे आत्माका अहित नहीं होता। किन्तु अज्ञान दशामें जब हम हैं तो किसी भी मायाभूत पदार्थका विचार करके हम दुःख उठाते हैं, क्लेश किया करते हैं सो इन भिन्न पदार्थोंके देखनेके कारण मुझे सुख नहीं होता। मैं स्वयं ही अपने स्वरूपके दर्शन करके सुखी होऊँ, ऐसी भावना होनी चाहिए। यह भावना न रहना चाहिए कि मेरे घरके लोग, कुटुम्बके लोग धन वैभवकी वृद्धिको प्राप्त हों, उससे हित नहीं है।

न कोऽपि शरणं भूतो न च कश्चिद् भविष्यति।
शरणस्य भ्रमं हत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥७-२॥

इस लोकमें मेरा कोई शरण नहीं हुआ और न कोई शरण होगा। जब पापका उदय आता है तो सगे लोग भी मुख मोड़ लेते हैं। जब तक पुण्यका उदय है तब तक पड़ोसी भी बड़ी सम्वेदना प्रकट करते हैं। तो इस लौकिक वातावरणमें हमारी शरण तो हमारा पुण्यकर्म है और पुण्यकर्म जो बना है, बंध है वह हमारे अच्छे भावोंके निमित्तसे बँधा है। तब हमारे लिए शरण हमारी भली करनी है। हम अच्छा काम करेंगे तो पुण्यका बंध होगा और जब उस पुण्यका उदय आयेगा तब हमको सामग्री मिलेगी। तो हमारे सुखी होनेमें हमारी करनी ही काम देने वाली है। इसलिए निरन्तर ऐसा यत्न करो कि हमारी करनी शुद्ध रहे। मेरे मनमें किसी भी जीवको दुःखी करने का भाव न उत्पन्न हो। किसी भी जीवको मैं दुश्मन न मान सकूँ। कोई मेरा दुश्मन नहीं है, किन्तु मेरे कारण यदि मेरी स्वार्थसाधना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

न हो तो वह शत्रुताकी कल्पना कर लेता है। कोई किसीको शत्रु माने तो कहीं वह शत्रु नहीं हो जायेगा। जीव तो कोई शत्रु है ही नहीं। हमारी खुद-गर्जी नहीं सिद्ध हो पाती है तो इस कारण हम दूसरोंको अपना शत्रु मान लेते हैं। वस्तुतः हमारा कोई शत्रु नहीं है। इसी प्रकार मेरा कोई मित्र नहीं है। शत्रु और मित्र सम्बंधी रागद्वेषोंको छोड़कर अपने भाव शुद्ध बनाओ। तुम्हारे भाव शुद्ध होंगे तो पुण्यकर्म बढ़ेगा और पुण्य पल्ले होगा तो लोकमें सुखसाता रहेगा। पुण्य खत्म है तो सुख साता नहीं रह सकता है। हम आपके मनमें झूठ बोलने का इरादा न हो। झूठ बोलने का इरादा रहे और झूठ बोल न सकें तो झूठ बोलनेका इरादा होना भी मलिन परिणाम हो गया। और जब परिणामोंमें मलिनता आ गयी तो पापोंका बंध हो गया। पापोंके उदयमें जीवको सुखसाता नहीं प्राप्त हो सकती। तो हमारे लिए शरण तो हमारा निर्मल परिणाम ही है और फिर कोई यदि चाहे कि मैं अमुकका रक्षक बन जाऊँ तो वह दूसरोंका रक्षक बन ही नहीं सकता है क्योंकि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि केवल अपने भाव बनानेमें समर्थ है। दूसरोंका सुधार और बिगाड़ करनेमें समर्थ नहीं है। यहां कुछ क्रोधकी या रागद्वेष भावोंकी बात नहीं कही जा रही है किन्तु न्याय ही ऐसा है कि कोई जीव किसी दूसरेका शरण हो ही नहीं सकता और शरण माननेकी आवश्य-कता क्या है? मैं एक पदार्थ हूं, सत् हूं तो सत् होनेके नाते ही मैं स्वरक्षित हूं। मेरा कोई बिगाड़ नहीं करता। जैसे पुद्गलमें उनका कोई विनाश नहीं कर सकता। मान लो कोई काठ जल गया तो काठ नहीं रहा, पर परमाणु तो नष्ट नहीं हो गये। काठ नष्ट हो जानेके बाद वह राखरूपमें आ गया या आकाशमें फैल गया। तो छोटे-छोटे अणुवोंके रूपमें फैल गया। मगर वह विनाशीक तो नहीं हुआ। जो चीज सत् है उनका कभी विनाश नहीं होता। मैं भी सत् हूं, मेरा भी कभी विनाश न होगा तो फिर किसी दूसरेकी शरण ढूँढ़नेकी आवश्यकता क्या है? मैं हूं और परिणमनशील हूं, स्वयं रहने वाला हूं। स्वरक्षित हूं, इसको भय माननेकी जरूरत ही नहीं है। पर यह जीव जो निरंतर भयकी वासनाएँ बनाए है, इसका कारण है पर-पदार्थोंमें मोह बुद्धिका होना। मरते समय यह जीव शरीरसे अलग होता है इसका दुःख मरने वाला नहीं करता किन्तु हाय यह मेरा मकान छूट जायगा, मेरा यह घर छूट जायगा, ऐसा परपदार्थोंके छूटनेका गम उसे बना है और इसी कारण वह दुःखी है। सो ऐसा जीवनमें यत्न करो कि मरणके समयमें मोहका परिणाम न जगे। देखो मरते समय तो दो मिनटमें ही सब खेल समाप्त होनेको है, सब कुछ छूट जाने को है। ये चीजें जबरदस्ती छूट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जायेंगी यदि इनके रहते हुए हम अपने भावोंसे इन पदार्थों को छोड़ दें तो कुछ महत्व भी है। जबरदस्ती पदार्थ छूट जायें और फिर उससे अपने को त्यागी मानें तो ये सब मोहकी बातें हैं। त्याग तो तब है जब खुद अपनी इच्छासे सारे पदार्थ त्यागे जायें। जगत्में कोई भी पदार्थ मेरी शरण नहीं है—यह बात युक्तिसे भी सिद्ध है और अनुभवसे भी सिद्ध है। इस युक्ति-सिद्ध अपने आत्माको क्यों नहीं देखा जाता? कोई भी पुरुष मुझे न तो मरणसे रोक सकेगा और न मेरे दुःखोंमें कुछ मदद दे सकेगा। इस ही भवमें तो देखो कितनी बार तो असाधारण रोगी हुए, उस समय कुटुम्बके लोग बैठ कर बातें तो बहुत करते रहे, प्यार भी जताते रहे, मगर मेरे रोगको बांटनेमें समर्थ नहीं हो सके। अभी देखो आप कुछकी कुछ कल्पनाएँ बनाकर चित्तमें दुखी होते हो और तुम्हारे बाल बच्चे हंस खेल रहे हैं। उन्हें कुछ भान ही नहीं है। तो अपना दुःख अपने सिर रहता है और बच्चोंका दुःख बच्चोंके सिर रहता है और संसारमें भटकना बना तो अकेले ही भटका करते हो और संसार से यदि मुक्ति मानते हो तो मुक्ति माननेका उपाय भी आप अकेले ही कर सकते हो। आपका आपही अपने लिए सर्वस्व है, यह किसी दूसरे का शरण नहीं हो सकता है। ऐसा वस्तुका स्वतंत्र स्वरूपास्तित्व देख कर व्याकुलताओंको, छल कपटोंको, खोटे परिणामोंको अपन लोग त्यागदें तो इस त्यागके महात्म्यसे अपने आपमें सच्चे सुखका विकास होगा। अब मैं शरणके भ्रमको समाप्त करके स्वयं शरणस्वरूप निजब्रह्म में ही ठहरकर अपने आपमें ही सुखी होऊँ।

न भूतो न भविष्यामि कस्यचिच्छरणं कदा।
कर्तृत्व वारुणीं क्षिप्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३॥

जैसे कोई मेरी शरण न हुआ और न होगा इसी प्रकार मैं भी किसी दूसरेका शरण नहीं हूं और न हो सकूँगा। छोटे बच्चेका जब मरने का समय हो तब गोदमें बैठाये हुए हैं, देखते जाते हैं कि बच्चा मरने जाता है पर उस बच्चेको बचानेका उपाय करते हैं। किसमें बच्चेको बचाने की सामर्थ्य है? कोई दूसरेकी शरण हो ही नहीं सकता। यदि मान लो कि आपने किसी दूसरे को बहुतसी सहायता दी, जिससे उसका बहुतसा स्थिरीकरण हुआ। उसे सुखसाता मिला तो भी आपने उसे अपनी शरण नहीं दिया किन्तु उसका पुण्यका उदय था तो कोई न कोई शरण उसे मिलता ही जाता है। आपके छोटे बच्चे जिसको आप इतने चावसे देखते हैं, उनसे प्रीति करते हैं, उनको खुश रखने का यत्न करते हैं तिसपर यदि आप ऐसा समझते हैं कि मैं बच्चोंको पालता हूं, बच्चोंकी रक्षा करता हूं तो यह आपका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ख्याल गलत है। उन बच्चोंका इतना उत्कृष्ट भाग्य लगा हुआ है कि आप जैसे दसोंको उनकी खुशामदमें रहना पड़ेगा। मैं किसीका शरण नहीं हूं और न किसीका शरण होऊँगा। यह मोह महामद अनादिकालसे जीव पिये हुए है और खोटी खोटी गतियोंमें भ्रमण कर रहा है। यह मोहका नशा कैसे मिटे? इसका उपाय है ज्ञान। खोटे ध्यानसे इस जगत्में शांति न मिलेगी। कई वर्षोंसे यही धूमधाम आप कर रहे हो पर कभी शांति मिली हो तो बतलावो? यदि एक-एक वर्ष एक-एक दिनको आप जोड़ते रहते तो कितनी शांति आप देखते। पर शांति तो कभी नहीं हुई, कभी कुछ कल्पनाएँ हैं, कभी कुछ कल्पनाएँ हैं। शांति पानेका मार्ग दिखने वाली यह प्रभुकी मूरत है जिसके हम दर्शन करने आते हैं। जिस मूर्तिके हम दर्शन करते हैं उस मूर्तिसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि हमें शांत होना हो, सुखी होना हो तो बाह्य आडम्बरोंके परिग्रह को तजकर उसके समान ही अपने आपमें ज्ञान बनाओ और उस ज्ञानको बनाए रहो तो तुम्हें शांति मिलेगी। ऐसी आवाज मानो मूर्तिकी ओरसे आए तो समझो कि हमने अब प्रभुके दर्शन किये अन्यथा यह भी एक भ्रम है कि नहाया, मंदिर आये, थोड़ा सा झट-झट बोल गए। भजन करने में भी अच्छा नहीं लगता, जब कोई चिंता सवार हो, जगत्की धुनि बनी हो तब कोई वहां मार्ग नहीं सूझता। कर्तृत्वकी बुद्धि इन जीवोंके साथ निरंतर लगी रहती है। मैंने यह किया, मैंने मंदिर बनवाया, मैं मित्रों की अच्छी व्यवस्था करता हूं, मेरा घरके लोग बड़ा हुक्म मानते हैं—ऐसी कितनी ही बातोंका ख्याल करके यह जीव व्यर्थमें दुःखी हो रहा है। मैं कभी भी किसीका शरण नहीं हूं और न हो सकूँगा। फिर परपदार्थोंके करनेकी तो बुद्धि लगाए रहना क्यां विवेक कहला सकता है? अरे मनुष्य जन्म पाया संयमसे रहो, शुद्ध खानपानसे रहो, किसी जीवको मर्मभेदी वचन न बोलो। यह जीभ मिली है तो इस जीभका सदुपयोग करो; सरस, मधुर, हितकारी वचन बोलो। आपसे दूसरे जीवोंका भला न हो सके तो पाप करनेकी चेष्टा तो न करो। भाव पवित्र बन गये तो स्वयं ही संसार आपकी ओर झुकेगा। चाहो तो यह कि जैसा चाहें भाव बना रहे। हमारे विषयमें आनन्द न छोटी और थोड़ी टीमटामके साथ अपने धर्मका रक्षक बनाया तो उससे क्या दुःख मिट सकते हैं? दुःख दूर होनेका उपाय मात्र सम्यग्ज्ञान है। तो भैया, ज्ञान सीखो यह देहात का ग्राम है इसमें कुछ ऐसा काम नहीं है कि रात दिन आप धंधेमें ही जुटे रहो। दुकान चलानेको बहुत टाइम पड़ा है। दुकानदारी करो पर बाकी समय तो अपना अच्छे उपयोगमें लगावो। पर उपयोग तो दूर रहा, बाकी समय शायद गप्पोंमें ही बीतता हो, लड़ाई में बीतता हो।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपने कामसे काम रखो। जिससे अपना सम्बन्ध है वह काम करो। या तो आपकी कमाई होवे तब बोलो या आपका धर्म सद् है वहां बात बोलो। फालतू बातें बोलनेसे गप्प-सप्पमें समय बितानेसे यहां वहांकी दूसरोंकी निन्दा करनेसे कौनसा आपको लाभ हो जायेगा सो बतलावो? तो व्यर्थके वचन बोलनेकी क्रियायें, चेष्टाएँ करने से हित नहीं है। इसलिए धन कमाओ खब कमाओ, जितना बन सके उतना कमाओ, हम मना नहीं करते। कमाई के कामके अलावा जो समय बचता है उस समयका आप सदुपयोग क्यों नहीं करते? गप्पों सप्पोंमें अपना समय न लगावो सो यह मनमें निर्णय रखो कि मैं किसीका शरण हुआ और न होऊँगा। मुझे कोई शरण मिला और न मिलेगा। इस संसार-बनी के अन्दर हम आप केवल अकेले ही घूमते फिरते हैं। कोई सुयोगवश एक घरमें चार छः जीव इकट्ठे हो गये। अचानक ही कुछ बुद्धिपूर्वक इकट्ठे नहीं हो गये कि अगर मैं ऐसे अपने यत्न करके मेले न होता तो यहां न पैदा होता। जो जीव आगए, आ गये, उन जीवोंसे आपका रिश्ता नहीं है। आ गये हैं, बिखर जायेंगे। तो यों दुनियांको असार जान कर यहां की प्रीतिको छोड़कर अपने ज्ञानकी प्रीतिमें लगावो तो यह ज्ञान स्वरूप ही आपका शरण होगा।

बन्धुर्मित्र सुतो दारा भृत्यः शिष्यः प्रशंसकः।
एभ्यो मे न हितं शक्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४॥

बंधु, मित्र, पुत्र, स्त्री, नौकर, शिष्य, प्रसंसक आदि किन्हीं भी जीवों से मेरा हित नहीं हो सकता है। भाई मेरा क्या हित करेगा? बंधु तो एक बंधन है। बंधुसे मेरा हित नहीं है, राग या द्वेषरूप बंधन का वह कारण है। कहो उससे मन मिल जाय तो विकट राग हो जायगा। उससे यदि भाव न मिले तो विकट द्वेष हो जायगा। भाई-भाईसे बढ़कर प्रेम कहीं नहीं हो सकता है और भाई-भाईसे बढ़कर द्वेष कहीं नहीं हो सकता है। भाई तो एक बंधन है। बंधुसे हित कैसा? अनुराग हो गया तो हित नहीं और द्वेष हो गया तो हित नहीं। बंधु शब्दका सरल अर्थ है 'बंधयति योजयति स्वहिते इति बंधुः।' जो अपने हितमें लगावे, उसे बंधु कहते हैं। दूसरा कोई जीव मुझे अपने हितमें कैसे लगा सकता है? हित तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे हैं, सो भला यह रत्नमय आत्माकी परिणति है। सो मेरी आत्माकी परिणतिको कोई दूसरा कैसे कर सकता है? अभी यहीं लोकमें देख लो जिस किसीको क्लेश होगा उसे इष्टके वियोगका ही क्लेश होगा। उसे कोई धन वगैरह नष्ट हो जानेसे क्लेश होगा तो वह अपने चित्तमें अत्यन्त दुःखी है, उसको समझाने वाले बहुत-बहुत समझाते हैं किन्तु उसकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

समझमें नहीं बैठता। रिश्तेदार भी बहुत 'समझाते हैं जितना हो सकता है उतना सहयोग भी देते हैं, पर दूसरोंके हृदयकी व्यथा को कोई दूसरा नहीं मेट सकता। और व्यथा भी कुछ नहीं, केवल अपना भ्रम है, परवस्तुका लगाव है, सो उस भ्रमके कारण यह जीव दुःखी होता फिरता है। अपने हितमें लगाने वाली अपनी आत्मा ही है। इस कारण बंधुसे हित न रखो। मित्र किसे कहते हैं? 'माति रक्षति विपद्भ्यः इति मित्रः।' जो विपत्तिसे बचावे उसे मित्र कहते हैं। अब विपदाएँ जीव पर क्या हैं? केवल अपने भ्रमका रागद्वेषका भाव विपदा है, और कोई विपदा इस जीव पर नहीं है। जो जीव बड़ी चिन्तामें बैठा है वह कहीं दूसरे पदार्थोंके कारण विपदाओंसे ग्रस्त नहीं है, किन्तु अपने ही भाव खोटे बनाकर अपनेको विपदाओंमें डालता है। दूसरा कोई हम पर विपदाएँ नहीं डाल सकता। हम खुद अपने में ख्याल बनाकर विपदाएँ डाल लेते हैं। सो मैं ही अपनेको विपदाओंमें डालता हूं और मैं ही सद्विचार करके अपनेको विपदाओंसे बचाता हूं। मुझे विपदाओंमें डालने वाला कोई दूसरा पुरुष नहीं है। मैं ही मेरा मित्र हूं। लोग यह दृष्टांत दिया करते हैं कि पुत्र तो रक्षक बनेंगे। पुत्रोंसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं। क्या पुत्र उसके दुःख परिणमनको मिटा सकते हैं? पुत्र को यदि उसकी प्रवृत्ति सह जाय जब तो बाधक नहीं बनता है और यदि न सुहा जाय तो उल्टा क्लेश देनेको तैयार रहता है। सुतका अर्थ है- 'सुइते इति सुतः।' जो उत्पन्न किया जाता है, उसे सुत कहते हैं। आपका ज्ञानानन्दघन अमूर्त आत्मा किसको पैदा किया करता है? आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा क्या शरीरको, पुत्रको उत्पन्न कर सकता है? नहीं। आत्मा अपने ही संस्कारोंको रचा करती है, इस कारण आत्माका सुत आत्मा ही है और इस अपने सुतसे तो अपना हित सम्भव है, पर बाहर के जीवोंसे जिन्हें पुत्र मान रखा, उनसे अपना हित सम्भव नहीं है। सुतसे हितकी क्या आशा रखनी? इसी प्रकार संस्कृतमें दाराका अर्थ स्त्री है। स्त्री का नाम दारा है। दारासे भी क्या हित है? दारा शब्दका अर्थ है- 'दारयति भेदयति इति दारः।' जो भेद करा देवे उसका नाम दारा है। अब किस का भेद करा देवे? यह अपने आपसे अर्थ लगा लो। जो भाई-भाईमें भेद करा देवे उसका नाम दारा है। विवाह होनेके बाद फिर भाई-भाईमें राग नहीं रह पाता। अरबों भाइयोंमें विरला ही कोई भाइयोंका जोड़ा ऐसा होगा कि स्त्रीके होते हुए भी भाई-भाईमें प्रेम बना रहे। विवाह होनेके बाद भाई-भाईमें प्रेम नहीं रह सकता है। इसी कारण स्त्रीका नाम दारा है। जो भाई-भाईमें भेद करदे वह दारा है। अच्छा अब अपने सम्बन्धमें अर्थ लगाओ। जो विभावों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

में भेद करा देवे उसका नाम दारा है। मेरा ज्ञानघनशुद्ध स्वरूप और राग द्वेषादिक विभाव इसमें भेद करा देवे, इसको जुदा-जुदा समझा देवे ऐसी परिणति का नाम है दारा, प्रज्ञा, भेदविज्ञान। सो प्रज्ञा ही मेरा हित कर सकनेमें समर्थ है। पर यह लौकिक दारा, स्त्री मेरा हित करनेमें समर्थ नहीं है। इसी प्रकार भृत्य याने नौकर। भृत्योंसे अपना सम्बन्ध हो सकता है क्या? वे भी परपदार्थ हैं। उनसे मेरा सम्बन्ध कैसे? भृत्यका शब्दार्थ है- 'भरतविशेषणानि इति भृत्यः।' जो दूसरोंका भरण पोषण करे, उसका नाम भृत्य है। दुकानमें जो मुनीम आदि लगे हैं, वे उस धनी परिवारका भरणपोषण कर रहे हैं। जो परिवारका भरण पोषण करे उसका नाम भृत्य है। मेरी आत्माका भरण करने वाला कोई दूसरा नहीं है। मेरी ही आत्मा मेरी आत्माको पोषित कर सकती है। तो यह मैं आत्मा ही अपने लिए हितकारी हूं। पर लोकमें कहाने वाले भृत्य, नौकर-चाकर ये मेरा हित करने वाले नहीं हैं। शिष्य भी कोई मेरा हित करनेमें समर्थ नहीं है। शिष्य कहते हैं- 'शिष्यते हिते इति शिष्यः।' जो हित करना अपनेसे सीखे उसका उसका नाम शिष्य है। तो परमार्थसे मेरे हितकी बातको मैं ही सीख सकता हूं। दूसरेके हितकी बातको वे दूसरे ही सीख सकते हैं। कोई किसीको हित सीखा नहीं सकता है। परजीव मेरा हित क्या करेंगे? वे तो अपने आपके हित करने अथवा अहित करनेके भाव बनाते हैं। मेरा हित करने में मैं ही समर्थ हूं। इसी प्रकार प्रशंसक लोग मेरा क्या हित कर सकेंगे? जो प्रशंसा करे उसका नाम प्रशंसक है- 'प्रशंसेण संसते इति प्रशंसकः।' जो बहुत अधिक रूपसे प्रशंसा करे, उत्तम निरूपण करे उसका नाम प्रशंसक है। तो दूसरा जीव यदि कोई प्रशंसा करता है तो उस प्रशंसा करने वालेसे मेरा हित तो दूर रहा, उल्टा अहित ही होता है। मैं अपने गुणों को भूल जाऊँगा और यथा तथा विचार बना डालूँगा। और प्रशंसा रुच जानेके कारण बड़वारीमें लग जाऊँगा। प्रशंसकसे मेरा कोई हित नहीं है। मेरा प्रशंसक तो परमार्थसे मैं ही हूं। मैं तो अपने अनुभवके द्वारा अपने गुणोंसे ज्ञानरसका स्वाद लूँ तो यही मेरी सच्ची प्रशंसा है। बाहरी प्रशंसकसे मेरा हित नहीं है। तो इन सबसे हितकी भावनाओंको त्यागकर मैं अपने आपको ही अपना हितकारी समझूँ और अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

मृत्यौ सत्यां न यास्यन्ति केऽपि ये रागदर्शिनः।
केभ्यः कुर्यामसद्ध्यानं स्वां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-५॥

जितने भी रागके दिखाने वाले हैं, मृत्यु होने पर मेरे साथ न जावेंगे। पति पत्नि पर कितना अनुराग दिखाता है? पर पतिके साथ पत्नीकी आत्मा

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या जायगी ? पिता पुत्र पर कितना भी अनुराग रखे, कदाचित् पुत्रकी मृत्यु हो जाय तो पिताकी आत्मा क्या पुत्रके साथ जाती है ? पुत्र कितना ही अनुराग पिताके साथ दिखावे, पर क्या पिताके मरने पर पुत्रकी आत्मा साथ जाती है ? कितना भी रागदर्शी हो, मृत्यु होने पर कोई साथ नहीं जाता है। बल्कि एक कथानक है कि एक स्त्री अपने पतिसे बड़े प्रेमकी बातें किया करती थी कि आपके जीवनके बिना तो मेरा जीवन ही नहीं है। एक बार पतिने सोचा कि पत्नीकी परीक्षा करें। रात्रिको भोजन करने वाले जातिके लोग थे। जब रात्रिको नौ, दस बजे तो अपनी श्वासको रोककर मरनेका ढंग बनाकर पैर पसारकर मरनेका स्वरूप दिखा दिया कि हम मर गये। अब १० बजे भोजन करने को बुलाया तो बच्चा बोला कि पिता जी मर गये। वहां जाकर स्त्रीने देखा तो पतिदेव मरे पड़े थे। अब स्त्री सोचती है कि यह तो १० ही बजे रात्रिको मर गये और अभीसे रोवें तो लोग जुड़ जावेंगे और सारी रात्रि रोना पड़ेगा। अभी हल्ला न करूँ। पहिले जो यह खीर बनाकर रखी है, खा पी लूँ, फिर सोकर ५ बजे से रोना शुरू करूँगी। जो बनाया था खब खाया, खब सोई। सुबह ५ बजे से रोना शुरू किया। लोग जुड़ आये। सब समझाते कि रोनेसे क्या लाभ है ? इनको जल्दी मरघटमें ले चलो सो वह तो पैर पसारकर मरा था। अब दरवाजेसे निकालते तो निकलता नहीं। बहुत यत्न किया, औंधा सीधा, तिरछा टेढ़ा किसी ओरसे फिट नहीं बैठता। दरवाजेसे न निकला। लोगोंने कहा कि देर क्यों करते हो ? कुल्हाड़ी मंगावो, सो दरवाजे को काटो फोड़ो। सो दरवाजा फोड़नेको पंच लोग कहते हैं। सो पंच लोगोंसे स्त्री कहती है कि ये तो मर ही गये, मैं विधवा हो गई, मेरे कमाने वाला कोई रहा नहीं सो इसको बनवायेगा कौन ? इसमें २०० रुपया लगेंगे। ये तो मर ही गये हैं, इनको जलाने के लिए ही जा रहे हो, सो इनकी टांग काट लो। यहां नहीं काटते तो वहां तो जलेगा ही। सो कुछ नये विचारके लड़के लोग थे। उनकी समझमें आ गया कि मरे हुएको क्या है ? टांग तोड़ देना ही अच्छा है। दरवाजेका काटना ठीक नहीं है। कुल्हाड़ी मंगायी। जब कुल्हाड़ी सामने आ गयी तो अब मरे बननेसे तो काम नहीं चलेगा। सो धीरे धीरे अंगड़ाई लेकर जिन्दा होनेका ढंग दिखा दिया। लोग सब खुश हो गये कि यह जिन्दा है। अब सब लोग चले गये। अब किसी दूसरे दिन उसने समझ लिया कि स्त्री कितनी प्रीतिकी बातें करती थी, अब वे सब बातें कहां चली गयी ? यह पति पत्निका प्रेम कब तक है जब तक वासना सरती है, नहीं तो देखो विवाह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होनेके दो चार साल बाद तक बड़ा प्रेम रहता है और फिर ४ ५ साल गुजर जाने पर फिर प्रेम नहीं रहता है। कोई किसीसे प्रेम नहां करता है। सब अपना-अपना प्रेम करते हैं। जितने ये राग दिखाने वाले जन हैं ये सब कोई भी मरण होनेपर मेरे साथ नहीं जाते। फिर मैं किनके लिए खोटा ध्यान करूँ। खोटा ध्यान करनेका फल परिवारके लोग, मित्रजन न भोगेंगे। मेरे ध्यानका फल तो खुद को ही भोगना पड़ेगा। 'को वा कुर्यामसध्यानम्।' किनके लिए मैं खोटा ध्यान करूँ। कोई भी आत्मसंयोगके समयमें मेरी परिणतिके साथ नहीं परिणमता। जैसी मेरी इच्छा है, शत प्रतिशत वैसी ही इच्छा दूसरोंकी हो जाय, ऐसा कहीं मिलेगा नहीं। हो ही नहीं सकता। सब अपने अपने राग और कषायके अनुसार परिणमते हैं। जीवनमें भी तो लोग मेरे साथ नहीं चल रहे हैं। जैसा मैं चाहूं तैसा लोग चलें ऐसा तो जीवनमें भी नहीं हो रहा है। मरने पर मेरे साथ कोई जायगा यह बिल्कुल असम्भव बात है। मेरे साथ जावेगा तो मोह राग करके जो हमने अपना बुरा सस्कार बनाया, वह संस्कार साथ जायगा। और उस संस्कारके कारण जो कर्म बंध गए, वे कर्म मेरे साथ जायेंगे। और अगले भवमें खोटे कर्मोंके उदयका फल ही हाथ आयगा। फिर मैं किनके लिए अपना खोटा ध्यान करूँ। इस खोटे ध्यानके फलका असर दूसरों पर नहीं होता। मैं किसी दूसरेका बुरा विचार करूँ तो मेरे बुरा विचारनेसे उनका बुरा हो जायगा, ऐसा नहीं हो सकता है। बल्कि बुरा विचार करनेसे दुर्विचार का असर मुझ पर ही होगा। तो विचार बनाने मात्रसे मेरा कल्याण होता है और विचार ही बना लेनेसे अकल्याण होता है। तो मैं अपने शुद्ध विचारोंको बनाए रखनेकी सावधानी रखूँ। जिन पदार्थोंमें राग किया जा रहा है वे पदार्थ थोड़े समय को भी मेरे सहायक नहीं हैं। वे तो जड़ हैं, और जो चेतन परपदार्थ हैं वे अपने कषायके पोषणमें लगे हैं। वे मेरा शरण नहीं हैं। यदि दूसरोंका विचार करके अपना ध्यान खराब न करो। अपनेमें अपने आपके ही चेतनस्वरूपका, परमात्मस्वरूपका ध्यान करके अपनी आत्माकी पुष्टि कर ले। विवेकी पुरुष वही है, जो ऐसे प्रसंगोंके बीच भी इनमें अलिप्त रह कर अपने कल्याणकी धुन रखते हैं, रागद्वेषोंसे परे रहते हैं। इन रागद्वेषों से लाभ कुछ नहीं है। तो इन विकल्पोंसे परे रहकर मैं अपने आपमें अपने ज्ञान रसका स्वाद लूँ और सदाके लिए संकटोंसे बचूँ।

यथात्रत्यस्य नार्थाः प्रागन्यत्रे मे न केऽपि मे।
क्व हितं क्व सुखं मृज्यां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-६॥

जैसे इस समय मुझ आत्माकी पहिले भवकी कोई चीज मिली नहीं

Version 1

हैं। जिस भवसे मरकर हम यहां आये उस भवकी कोई भी चीज मेरे पास है क्या ? जिस घरको छोड़कर आये उसकी कुछ खबर है क्या ? जिस कुटुम्बको छोड़कर आये वह कुटुम्ब आपकी मदद करता है क्या ? उस कुटुम्ब की तो खबर ही नहीं है और न आपको उस कुटुम्बकी खबर है। जैसे पहिले भवके समागमकी बातें कुछ भी आज नहीं हैं तो ऐसा ही यह निर्णय रखो कि इस भवमें जो मुझे समागम मिला है इसमें से रंच भी मेरे साथ जाने वाला नहीं है। ये तो सब अपने अपने स्वार्थके साथी हैं। देखो मोहका विकट संकट ऐसा है कि ज्ञानकी बातें कुछ कुछ जानते भी हैं तो भी उनसे दूर नहीं हटा जा सकता। क्या उन्हें पता नहीं है कि सब अपने-अपने स्वार्थ के साथी हैं ? लड़के यदि कोई बात न मानें तो मनमें आता है और कह भी डालते हैं कि सब अपने-अपने स्वार्थ के गर्जी हैं पर दो मिनट बाद फिर फिरसे उन्हींमें मोह होने लगता है। ये सब अपने स्वार्थके साथी हैं – ऐसा कहना ज्ञानसे नहीं होता है किन्तु घबड़ाकर होता है। ज्ञानपूर्वक यदि भेदविज्ञानकी बातें आ जायें तो इसे सम्यग्ज्ञान हो गया। कोई भी जीव मेरा साथी नहीं है। किन्हीं भी जीवोंसे मेरा हित नहीं है फिर मैं किन में हित खोजूँ और किसमें सुख खोजूँ। बड़े-बड़े पुराणोंकी बातें देख लो तो वहां यही दृश्य नजर आता है कि एक घरमें कहां कहां से कैसे-कैसे लोग इकट्ठे हुए और कुछ ही समय बाद किस-किस विधिसे लोग बिखर गये। उनका वियोग हो गया। पुराणोंमें देखो तो यही नजर आता है और अपने गांवमें देखो तो यही नजर आता है। कौन किस गतिसे आया है ? कैसा वह आत्मा है, इकट्ठे हो गये हैं। बस घरमें आने मात्रसे आप उन्हें अपना मानने लगे। प्रत्येक जीव तो सब एक-एक स्वरूप है। जो घरमें नहीं आया उसका भी स्वरूप मेरे ही जैसा है और जो घरमें आया उसका भी स्वरूप मेरे ही जैसा है। कुछ अन्तर नहीं है। जिन्हें आप पुत्र मानते हो, जिन्हें आप गैर मानते हो सब जीवोंमें कोई अन्तर नहीं है। रही समय पर सहयोग की बात तो आपके पुण्यका उदय है तो पड़ौस वाले भी आपका सहयोग देंगे और यदि पापका उदय है तो घरमें जाया बालक भी आपका सहयोग नहीं दे सकता। तो आपका सहयोग आपका पुण्यकर्म है। सो अपने पुण्य का भरोसा रखो, अपनी करनी का भरोसा रखो, किसी दूसरेका भरोसा न रखो। दूसरे लोग भी तभी मददगार होंगे जब आपका उदय ठीक है। असलमें तो आपका उदय ही आपकी मदद करता है और दूसरा कोई मदद करता नहीं है। सदा अपने शुद्ध विचार रखो, उदारता व प्रेम रखो। अभी देखो इसही गांवमें हजारोंका नुक्सान हुआ, किसीका क्या यह विचार हुआ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कि पापका उदय आया था सो १० हजारका नुक्सान हुआ। यह तो जबर-दस्ती हुआ और अपने मनसे ५ हजार का और दान करदें जिससे कि पापा का एकदम क्षय हो जाय। बिरले ही पुरुष ऐसे होते हैं कि वे विवेक रखते हैं। मान लो १० हजारका नुक्सान हो गया तो क्या ११ हजारका नुक्सान नहीं हो सकता था? पर अपने मनसे एक हजारका भी त्याग किया जा सकता है क्या? जिसको जो कुछ मिला है, क्या वह किसीके पैर पीटनेसे मिला है? पूर्वमें जो कर्म किए उससे यह प्राप्त हुआ है। यदि सुख समृद्धि चाहते हो तो यह कर्तव्य है कि अपने उत्तम विचार बनाओ। अपना हित अपने आपमें सोचो, बाहर हित न ढूँढो, बाहर सुख न ढूँढो। तुम्हें क्लेश क्या है? तुम तो सुखी हो। तुम्हारा स्वरूप ही आनन्दमय है। पर मोह बना रखा है, परपदार्थोंमें तृष्णा बना रखी है तो निरन्तर आकुलताओं का अनुभव करते है। उस तृष्णाको हटावो तो तुम्हारा आनन्द अभी प्रकट है। पर यहां बैठे हुए तुम शरीरमें भी न हो तुम शरीरको भी भूल जावो। जो शरीर पर कपड़े पहिन रखे हैं उनको भी भूल जावो और जो शरीर का बंधन लगा रखा है उसको भी भूल जावो और जिनमें मोह किए जाते हो उनको भी भूल जावो और अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के दर्शन करो तो तुम यहां ही पूरे सुखी हो। सो अपने आपको देखो और सुखी होवो।

आस्तां दूरे पुरे वासः संगो दूरे जनैषिणाम्।
दूरे प्रशंसकाः सन्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-७॥

यह नगरका निवास, जिसमें लोगोंकी बड़ी रूचि रहती है यह दूर रहे क्योंकि नगरवासी जनमोहमें लिप्त हैं सो यह देख ही रहे हो उनके संग में निर्विकल्प की भावना आनी कठिन है। उनके आराम को देख कर, उनकी यश कीर्ति को देख कर स्वयं में भी वैसी आरामकी इच्छा हो जाती है। उनसे हित कुछ नहीं मिलता है। और ऐसे पुरुषोंका भी सङ्ग दूर रहे जिनकी यश और कीर्तिकी ही सदा चिन्ता रहती है। कीर्तिकी चाहका नाम है लोकैषणा। प्रशंसा करने वाले दूर हों। किसीकी प्रशंसासे आत्मामें निराकुलता नहीं होती। ये जीव स्वयं दुःखी है। जो स्वयं दुःखी है वह दूसरोंके दुःख दूर होनेमें निमित्त कैसे हो सकता है? प्रभु स्वयं आनन्दमग्न है। प्रभुके दर्शन भी न हों, किन्तु प्रभुकी मूर्तिकी स्थापना करकी है तो यह मूर्तिदर्शन भी हमारे आनन्दका और मार्गदर्शनका साधक हो जाता है। अब किसी भी देहाती पुरुषके दर्शन करके हम अपने हितका क्या मार्ग ढूँढ़ सकते हैं? इसी प्रकार जिसे ज्ञानकी उपासनासे प्रेम नहीं है किन्तु मोह कलंकसे दूषित होकर इस असार दुनियांमें अपने पर्याय नामको फैलाने

http://sahjanandvarnishastra.org/

के यत्नमें रहता है, ऐसी कलुषित आत्माओंके सङ्गमें ही क्या हितका मार्ग मिल सकता है ? प्रशंसा करने वाले लोग हमारे हितके साधक नहीं होते किन्तु उनकी प्रशंसाको सुनकर हम अपने आगामी दुःखोंको भूल जाते हैं। इस जगतमें हम हितके लिए उत्पन्न हुए थे इस मनुष्य पर्यायमें, किन्तु प्रशंसाके व्यामोहमें आकर हम अपने हितकी बातें सब भूल जाते हैं और प्रशसा करता भी कौन है ? जो लोग प्रशंसा करते हैं वे मात्र अपने कषाय की चेष्टा करते हैं। प्रशंसामें ज्यादासे ज्यादा कोई क्या कहेगा ? यह बड़े धनी है। तो धन तो मेरा स्वरूप नहीं है। धनकी बड़वारी करनेसे मेरी क्या बड़वारी हो जायगी ? यही कहेगा कि यह बड़े परिवार वाले हैं। तो परिवार मेरा स्वरूप नहीं है। उनकी बड़ाईसे मेरी बड़ाई नहीं होती। कोई कहेगा कि इनके बड़े ऊँचे मकान हैं। तो मकानकी बड़ाईसे कहीं मेरी बड़ाई नहीं होती। कोई यह कहेगा कि ये बड़े धर्मात्मा हैं, पूजन करते, पाठ करते, स्व ध्याय करते तो ऐसा कहने वालोंसे तुम्हारे वास्तविक धर्मको देखकर नहीं कहा किन्तु ऊपरी जो बातें हैं, उनको आत्मा करता ही कहां है ? ये धर्मकी ऊपरी बातें मेरा स्वरूप नहीं हैं। धर्मकी ऊपरी बातें करते हुए भी शांति और आनन्द हो सकता है। दुनियांमें यश लूटनेके लिए, दुनियांमें अपना नाम रखनेके लिए कुछ त्याग कर दिया जाता, ऐसा भी हो सकता था। बाहरी पदार्थोंके त्यागसे वास्तविक त्याग तो नहीं कहलाता है। वास्तविक त्याग तो वह है कि जिसमें दृष्टि समस्त पदार्थोंसे न्यारी निज ज्ञानमात्र आत्मामें लग गयी है—ऐसी दृष्टिका जिन्हें पता है वे मेरी क्या प्रशंसा करेंगे ? वे तो स्वयं ज्ञानके पुजारी हो जायेंगे। जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं वे मेरे स्वरूपको नहीं जानते हैं और ऊपरी बातोंकी प्रशंसा करते हैं। सो उनकी प्रशंसा सुनने से हमारा अहित ही होगा। हित नहीं हो सकता है। तो प्रशंसा करने वाले भी दूर रहें, यह अन्तरध्वनि उस ज्ञानी संत महंतके है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे योगी हो, जिसने अपने स्वरूपको देखा, सर्व परपदार्थोंसे न्यारा अपने ज्ञानमात्र प्रभुको देखा उसकी यह अन्तरध्वनि है कि मुझे घरके निवाससे प्रेम नहीं। घर में रहते हुए भी घरसे विरक्त रह सके ऐसा ज्ञानका ही प्रताप है। मैं घरके निवासको नहीं चाहता, नगरके निवास को नहीं चाहता, न मैं लोगोंके संगकी चाह करता हूं। मैं तो केवल अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिको चाहता हूं। ये लोग मेरे कुछ शरण नहीं होंगे। जब संकट आयेंगे तब ये मुझे बचा न लेंगे। उनकी खुदगर्जी उनके पास ही रहेगी। पदार्थोंका स्वरूप ही खुदगर्जी लिए है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थसे नहीं आता है। यों मेरा स्वरूप सबसे न्यारा है। इस स्वरूपमें ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में रहूं। अन्य किन्हीं प्रसंगोंमें न रहूं। सम्बन्ध तो सुखी होनेके लिए मिलाया जाता है पर यह जगत्का कैसा विकट सम्बन्ध है कि यह सम्बन्ध सुखी होने का कारण नहीं है प्रत्युत दुःखी होनेका ही कारण है। मान लो इन मिले हुए समागमोंमें खूब आसक्तिसे मिलजुल कर भी रहो तो अंतमें क्या मृत्यु न होगी ? ये लोग छोड़कर जाना न होगा ? किस गतिमें जायेंगे ? वहां क्या बीतेगा ? इसका भी ख्याल रखना चाहिए। ऐसा नहीं है कि मेरे मरने के बाद ये रहेंगे नहीं। जगत्में जितने भी पदार्थ हैं वे सब सदा रहेंगे। जो है उसका नाश नहीं होता। वैज्ञानिक लोग भी इस बातको सिद्ध करते हैं कि जो भी अणु हैं, जो भी सत् है उसका नाश कभी नहीं होता। जैसे आंखों दिखता है ना कि जो लकड़ी है उसको जला दिया तो कोयला बन गया। उसका नाश तो नहीं हुआ और जल गया राख हो गयी तो कुछ भी अभाव नहीं हो गया। राख उड़ गयी, परमाणु बिखर गए, फैल गये, अभाव फिर भी नहीं है। अपने आपकी भी अपनी बात विचारो कि मैं भी हूं या नहीं हूं। यदि मैं नहीं हूं तो इससे बढ़कर और बात क्या होगी ? मैं भी नहीं हूं तो अच्छा है। सुखी दुःखी होनेका स्वरूप ही नहीं तो सुख दुःख कैसा ? हूं मैं और इसमें संकट है, सुख है, दुःख है, उपद्रव है, तरंगे हैं। जिसमें यह सुख दुःख है, जिसमें ये तर्क वितर्क है यही तो मैं हूं। मैं हूं इसलिए मेरा विनाश कभी नहीं होगा। इस शरीरको छोड़कर जाऊँगा तो भी रहूंगा। क्या रहूंगा ? जैसे वर्तमानमें इस शरीररूप हूं तो आगे भी किसी शरीररूप रहूंगा। किस शरीररूप रहूंगा ? कैसा रहूंगा ? यह इस आजके भवके अनुसार बात है। सो इस जगत्में यह सब चांदनी जो दिख रही है, चमक वैभव दीख रहा है इसमें राग हो गया तो इसमें कल्याण नहीं है। बड़ी संभालका यह अवसर है। यदि इस मनुष्यभव में संभल गये तो एक शरीर संभल जानेसे संभलते संभलते बढ़ते जायेंगे और यदि कुछ मनसे ढीला कर दिया और भोगोंमें आपत्तियोंमें बह गये तो बहते ही चले जायेंगे। इसलिए अपनी संभालका उद्यम हो, मनमें लालसा न आये और अपने स्वरूपके दर्शन करके अपने आपमें सुखी होने का यत्न करो।

सुखं सत्त्वं हितं तत्र तेभ्यः किञ्चिन्न वर्तते।
न च वत्स्यामि तत्राहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-८॥

इन बाह्यपदार्थोंसे मुझे सुख है क्या ? यदि मुझे सुख हो तो बाह्य पदार्थोंमें लगूँ। इन बाह्यपदार्थोंको हृदयमें लगाकर परीक्षा करके देख लो, सुख कैसे कैसे हैं ? कुछ आह्लादरूप परिणाम हों, कुछ आनन्द हो उसे सुख कहते हैं। आह्लाद और आनन्द इन बाह्यपदार्थोंमें कहां रखा है ? ये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दिखने वाले बाह्यपदार्थ अचेतन हैं, जड़ हैं। इनमें ज्ञान और आनन्दका मादा ही नहीं है। ये तो रूप, रस, गंध, स्पर्शके पिंड हैं। इनसे मेरा हित नहीं। क्या इनमें मेरा सत्त्व है, बल है, शक्ति है? मेरा बल मुझमें ही तन्मय है। ज्ञानका बल होना, श्रद्धाका बल होना, चारित्रका बल होना-- ये बल मेरेमें ही रहते हैं, बाह्यपदार्थोंमें यह बल नहीं होता है। लोग बाह्य पदार्थोंमें प्रतिक्षा करते हैं, अपना बल बढ़ानेका। मेरा बड़ा बल है, मैं बलिष्ठ हूं, मेरे पास इतनी सेना है, इतना वैभव है, मैं इतने बल वाला हूं, मेरे इतने बलके आगे दूसरे क्या करेंगे? इस प्रकार अन्य पदार्थोंमें बलका अभिमान रखकर, बलका भ्रम रखकर जगतके जीव व्यर्थ ही दुःखी होते हैं। मेरा बल किन्हीं भी बाह्यपदार्थोंमें नहीं रखा है। मेरा बल तो मेरे गुणों का बल है। जो अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण गुण मुझमें हैं, उनका ही मुझमें बल है। सो अपने ही आपके बलका भरोसा रखो और बाह्यपदार्थों का बल प्राप्त करनेकी आशा न रखो। स्वभावमें मग्न हो जाते हैं, तो हमारा बल हममें ही प्रकट होता है। इस बलसे ही सभी लोग ज्ञाता बन जाते हैं। और ऐसे अनन्त असीम आनन्दके भोक्ता हो जाते हैं कि जिस आनन्दको कभी चाह ही नहीं सकते हैं। यह अपना बल क्या परकी आशा रखनेसे बढ़ गया? मेरा बल मेरेमें ही आनेसे बढ़ गया। परकी आशा रखनेसे तो यह बल घटता है। सो इस बलके लिए भी मैं दूसरोंकी आशा न रखूँ। क्या मेरा हित कल्याण दूसरोंमें है? निराकुलता है। और निराकुलता कहां है? मोक्षमें है, मुक्तिमें है, अपने इन विकल्पोंसे छुटकारा हो जाए, ऐसी स्थिति में ही अपना हित है। विकल्पोंमें हित नहीं है। किन्तु मोहके भावोंमें यह जीव ऐसा रंगा हुआ है कि इसकी तो यह गांठ बन गयी है। अपना हित अपना सुख अपने परिवारमें ढूँढते हैं। औरोंमें, परिवारमें सुखका भ्रम करनेसे इसको समय-समय पर नाना संकट आते रहते हैं। जिन संकटोंको यहां देखा जा रहा है। दुःखी रहने पर भी यह मोह करनेकी आदत को नहीं छोड़ता। जितने क्लेश हैं ये सब मोह करनेके क्लेश हैं। अपने घरमें जो जीव इकट्ठे आ गये उनको मान लिया कि ये पुत्र हैं, ये फलां हैं। घरमें आये हुए लोगोंको मान लिया कि ये मेरे हैं। फिर उनमें मेरा है कौन? कोई नहीं। आपका मोह पुत्र बन रहे हैं। तो आप जिसे पुत्र मानते हो। कभी कोई बात बिगड़ जाय, कभी कोई बात कहनेसे बिगड़ जाय, चित्त पुत्रोंमें न रहे तो वे पुत्र आपके पुत्र नहीं रहते। पुत्र क्या दुश्मनसे भी अधिक हो जाता है? यदि किसी पुत्रने आज्ञाको भंग कर दिया तो आप उसे देखना तक नहीं पसन्द करते। तो कौन पुत्र है? आपका मोह है तो आपका पुत्र

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं। मोह है तो वहां आपका कुछ भी नहीं है। पुराणोंमें आप पढ़ते होंगे कि कोई पुरुष साधु हो गया। उसके बड़े लड़केने छोटेको ले जाकर मुनिजीके सामने पटक दिया और कदाचित् छोड़कर चला जाय। जिनके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया ऐसा पुरुष क्या मान सकता है कि यह मेरा पुत्र है? तो जब तक अज्ञान है, मोह है, तब तक इस जीवको यह आत्मा बड़ा प्रिय दिखता है और विवेक हो जाय तो फिर इस दुनियासे प्रीति नहीं हो सकती। इन बाह्यपदार्थोंमें न कोई सुख है, न सत्य है, न हित है, फिर मैं उनमें क्या करूँ? अर्थात् अपना उपयोग किसी परपदार्थोंमें न लगाऊँ। आप स्वयं ज्ञानमय हैं, आनन्दनिधान हैं, अपने आपकी दृष्टि देते हो तो यहां इतनी सिद्धि बढ़ती है कि अनन्त भवोंके बांधे हुए कर्म कट जाते हैं। पापकर्म पुण्यरूप बंध जाते हैं और पुण्यमें आकर थोड़ा रस हो तो अधिक रस बन जाता है। एक अपने आपकी दृष्टि करनेमें इतना गुण है कि जिसके प्रतापसे इस लोकके वैभवका सुख भी आप पाते हैं और परलोकके आनन्दको आप पायेंगे और मुक्तिका मार्ग भी आप पायेंगे। तो इन लौकिक वैभवोंमें मैं न बसूँ, इनसे दूर होकर मैं अपने आपके स्वभावमें रहूं, अपनेमें स्वयं सुखी होऊँ।

दुःखं सुखं विपत्सम्पत्कल्पनामात्रमेव तत्।
किं भिन्नं खेददं कल्पै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वकम् ॥७-६॥

दुःख है, सुख है, विपदा है, सम्पत्ति है—ये सब कल्पनामात्र हैं। आपके पास एक कांचका टुकड़ा हो और यह कल्पना बन जाय कि यह तो रत्न है तो आप बड़ा गौरव मानेंगे कि मैं धनी हूं। और हाथमें यदि रत्न का टुकड़ा रखा हो, और यह ख्याल बन जाय कि यह कांच है तो आप अपनेको धनीका अनुभव न करेंगे। हाथमें हजारों लाखोंका धन है पर आपका अनुभव गरीबका है और एक कांचके खण्डमें रत्नकी कल्पना हो जाय तो अपनेको यह अनुभव करेंगे कि मैं धनी हूं तो सुख दुःख और क्या चीज है? ये तो एक कल्पना मात्र है। विपत्ति क्या चीज है? लोगोंमें यह कल्पना बन गयी है कि देख लो मेरे कहे माफिक नहीं चलते। अरे नहीं चलते तो न चलें। विपत्ति कहांसे आगयी? अगर मोह बसा हुआ है, यह टेक पड़ी हुई है कि जैसा मैं चाहूं वैसा लोग करें तब तो मेरी शान है, तब तो मेरा अस्तित्त्व है और नहीं करते तो मैं कुछ नहीं रहा। इतने बड़े मोहके अंधकारके कारण यह जीव परेशान है। कोई मानना हो माने, न मानना हो न माने, आप स्वयं अपने आपको मना लें। अपने आपको अपने वशमें तो कर लो। जरा-जरासी बातोंको सुनकर अपनेसे ही चिगकर बाह्य

 http://sahjanandvarnishastra.org/

असार बातोंमें लग जाते हैं। पहिले अपनेको वशमें कर लो। आत्माकी चिंता करने से लाभ नहीं है। बस जैसी यहां इच्छा होती है वैसा बाहरमें काम नहीं मिलता है तो हम अपने आपमें विपत्तियोंका अनुभव कर लेते हैं। जरा विवेकपूर्वक तो सोचो। ये सब बाहरी समागम मेरे कुछ लगते हैं क्या? उनकी सत्ता उनमें है। मेरा स्वरूप मुझमें है। वे किसी प्रकार परिणमें तो उससे मेरा क्या बिगाड़ है और क्या सुधार है? एक कथानकमें जैसे कहते हैं कि दो भाई थे। उनमें से एक भाई दूसरेसे बोला कि अपनी मंदिरकी बारी है तो हम जंगल जाकर लकड़ी बीन लावें और तुम मंदिर पहुंचो। एक लकड़ी बीनने गया। एक मंदिर गया। मंदिरमें पूजा करने वाला सोचता है कि वह भाई तो किसी आमके पेड़ पर चढ़ा होगा, आमके फल खाता होगा। किसी जामुनके पेड़पर चढ़ा होगा, जामुन खाता होगा। लकड़ी बीनने वाला यह सोचता है कि वह मेरा भाई भगवान्के स्वरूपके चिंतनमें आनन्द ले रहा होगा। हम यहां कैसा आकर फंस गये। अब यहां यह बतलावो कि लकड़ी बीनने वालेको लाभ मिलता है कि मंदिरमें दर्शन करने वाले को? जो लकड़ी बीनने गया उसे लाभ हो रहा है और जो मंदिर में है, अन्य-अन्य बातें सोच रहा है सो उसे लाभ नहीं मिलता। सो सुख दुःख विपत्ति सम्पत्ति सब अपने भावोंसे भरी हुई चीजें हैं। बाहरी चीजों से विपत्ति न मानो। हम आप स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं। गृहस्थीके ज्ञान प्रकट होता है तो गृहस्थीके समागममें रहते हुए भी वह संत है, मोक्षमार्गी है। इस सम्यग्ज्ञानकी कितनी अच्छी करामात है कि घरमें रहते हुए भी वह मोक्षमार्गमें चल रहा है और इसीमें इतनी भी करामात है कि वह नरक निगोदके रास्तेमें चला जाता है और ज्ञानमें कुछ लगता नहीं है। बल्कि अपने शुद्ध विचार बनाना है। वस्तुके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करना है। इतना करनेमें कौनसी व्याकुलता है? खब देख लो, परख लो। वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा देख भर लो तो मोक्षका मार्ग बिल्कुल खुला हुआ है। पर ऐसा मोह हो जाय कि ग्रन्थ चाहे कुछ लिखें आचार्यजन चाहे कुछ कहें और भगवान्के उपदेश चाहे कुछ हों, मगर हमें तो रागद्वेषमें ही रहना है तो इसमें मेरा नाश अवश्य हो जायगा। ऐसा कुटेव लगा हुआ हो तो यह कितनी खेदकी बात है। इनसे हटें तो अपना कल्याण नियमसे होगा।

पराधीनं सुखाभासं परकीयां कृतिं मुधा।
लब्धुं क्लिश्नानि किं स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–१०॥

यह मोही जीव परके निमित्तसे होने वाले झूठे सुखको पानेकी चेष्टा किया करता है और परपदार्थोंकी परिणतिको पानेकी चिंता किया करता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है। पर सोचो तो सही कि परके निमित्तसे होने वाला जो सुख, जैसे इन्द्रियका सुख और प्रतिष्ठाका सुख, उस सुखमें स्वयं क्या बल है? माया रूप है, स्वयं एक विकार परिणति है, होकर नष्ट हो जाने वाला है। उस सुखकी चाहसे क्या लाभ है? चाहो तो उसे जो सदा रहता हो। जो मिट जाने वाला है, पराधीन है, उसकी चाहसे तो कष्ट ही है। इस जगतके नहमें क्या दम है? यह जगत अपने आधीन नहीं है। अपनेसे पृथक् है। उसके स्नेहसे फायदा क्या है?

जैसे रास्तेमें चला जाता हुआ मुसाफिर किसी चौराहे पर मिल गया राम-राम हुई, कुछ बातें हुई और चल दिये। यदि उससे स्नेह करने लगे तो वह मेरी बुद्धिमानी तो नहीं है। अरे रास्तेमें चलते हुए मुसाफिरसे स्नेह करनेसे लाभ तो कुछ नहीं मिलता है। इसी प्रकार ये संसारके प्राणी एक चौराहे पर इकट्ठे हो गये हैं। कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे आया। फिर कुछ क्षणों बाद अपने अपने भावके अनुसार अन्य भवमें चले जावेंगे। इन प्राणियोंसे स्नेह करनेका फल बड़ा कटुक है, केवल अंतमें क्लेश ही है। इस पराधीन सुखाभासको पानेके लिए मैं क्यों क्लेश करूँ और पराधीन परकी परिणति को कुछ बनानेकी क्यों मैं चिंता करूँ।

यह जीव स्वयं आनन्दस्वरूपको लिए हुए है। पर ऐसा ही मानकर रहे तो इसे आनन्द प्राप्त हो किन्तु यह अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूप को तो मानता ही नहीं। इसके यह समझ बनी है कि मेरा सुख मेरे बच्चोंके आधीन है। मेरा सुख घरके आधीन है, इन बातों से अपना बड़प्पन समझते हैं। फिर बतावो मिथ्याभावसे शान्ति कैसे आवे। जीव तो सब पूरे हैं, अपने स्वरूपसे भरपूर हैं, कृतार्थ हैं। प्रत्येक जीवका चैतन्यस्वरूप है। सो कितना बड़ा यह अपराध है कि हम अपनेको अधूरा मानते और दुःखी हुआ करते हैं। अचेतन पदार्थ तो कोई नहीं दुःखी होता। पुद्गल है, जल जाय तो जल गया, उसको क्या कष्ट है? धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और काल-द्रव्य हैं, जैसे भी हों, वे हैं और परिणमते हैं। मगर जीव है सब द्रव्योंमें सरताज, सब द्रव्योंकी व्यवस्था करने वाले हैं। ज्ञानमय हैं, लेकिन ये सब भूलसे अपने दुःख बना रहे हैं। कुछ हो, ज्ञाता द्रष्टा रहो और प्रसन्न रहो यही भगवान्का उपदेश है। जो भगवान्का उपदेश नहीं मानेगा, वह कितना ही ऊधम मचावे, जब तक पुण्यका उदय है, आखिर परिणाममें उसे क्लेश ही होंगे।

भगवान् का यह उपदेश है कि जो भी समागम प्राप्त हुए हैं, उसमें मोह न करो। पराधीनता का सुख और प्रतिष्ठा का सुख और दूसरोंकी

Version 1

परिणति, इनकी प्राप्त करनेकी इच्छा ही बड़ा संकट है। धन्य है वह गृहस्थ जिसके दुकान भी है, व्यापार भी है, अन्य और तरहके व्यवसाय भी हैं, लेन देन है, चारों ओरकी समृद्धि है पर चारों ओरकी समृद्धिमें भी वह आसक्त नहीं है। वह गृहस्थ धन्य है, वह सब ज्ञानका बल है। मोही जीवको यह बात नहीं रुच सकती। वे तो किसी विरक्त संतको देखकर यह कहेंगे कि यह तो आधा पागल है। इसको अपनी जायदादकी खबर नहीं। मगर फिकर करने से होता क्या है? जब तक जीवके पुण्यका उदय नहीं है तब तक उसमें शांति नहीं है। अगर पुण्यका उदय है तो उसमें शांति है।

एक दिन दो भाइयोंमें विवाद हो गया। एक तो कहता था कि तकदीर बड़ी और एक कहता था कि तदबीर बड़ी। दोनोंका वह मामला राजाके पास गया। राजाने एक कोठरीमें दोनों को २४ घंटेके लिए बंद कर दिया। तब तदबीर वाला देख रहा था कि क्या करना चाहिए? भूख लग रही है। यहां देखा, वहां देखा, एक जगह दो लड्डू पड़े हुए उसे मिले। एक लड्डू इसने खाया और थोड़ी देरमें उसको दूसरे भाई पर दया आयी। कहा आखिर विवाद है, विवादके पीछे भूखा क्यों पड़े रहे? उसने दूसरा लड्डू दूसरे भाईको दे दिया। अब जब दूसरे दिन दोनों निकाले गए तो तदबीर वाला कहता है कि महाराज तदबीर बड़ी है। अगर तदबीर हम न करते तो भूखों मरते। और देखो तदबीर करनेसे हमने भी लड्डू खाया और इनको भी खिलाया। अब तकदीर वाला बोलता है कि महाराज मेरी तकदीर चोखी थी तभी तो दास बनकर इन्होंने मुझे लड्डू दिया। ये जगत् के जितने वैभव हैं सब पुण्य पापके बंध हैं। यहां बिल्कुल व्यर्थका अभिमान है। यह सब सम्पदा पराधीन है। इस सम्पदाकी इच्छा करके मैं क्यों क्लेश सहूं? मैं तो अपने स्वरूपका ध्यान करके अपने आपमें ही सुखी होऊँ।

स्वच्युतेर्हेतवो भोगा अशान्तिर्भोगवेदनम्।
चेष्टैः किमेतदर्थं ज्ञः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-११॥

भोग आत्मासे च्युत होनेका नाम है। भोगोंका और काम ही क्या है? जिसके भोगोंकी इच्छा है, परकी ओर दृष्टि है तो वह अपने आपके स्वरूपको भूल जाता है। दूसरे ही इसे सब कुछ मालूम होते हैं, दास बन जाते हैं। ये भोग आत्माको च्युत कर देने में निमित्त हैं। वे भोग कौनसे हैं वे हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। ये ५ विषय हैं पंचेन्द्रियके और छठा विषय है मनका। लोगोंसे प्रतिष्ठा चाहे, अपनी बड़ाई चाहे, यह मनका विषय है। इसमें आत्महितकी बुद्धि करके रमण करना अपने चैतन्यस्वभाव से च्युत होनेकी अवस्था है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपने आपके स्वरूपको छोड़कर बाह्यविषयभोगोंमें रमना, यह आत्मापर बहुत बड़ी निर्दयताकी बात है। इसमें केवल अंधकार है, इसमें विकट कर्मबंधन हैं, जिसके उदयमें आगे भी बड़ी बड़ी आकुलताएं भोगनी पड़ेंगी। इसलिए यह बात बिल्कुल सुनिश्चित है कि भोग हमारी विकार परिणति के ही कारण हैं। जो बाह्य या अंतरंग उपाधिका निमित्त पाकर बन गया वह विकृत ही तो है। अपने आपके ज्ञाननिधान इस प्रभुको न निरखकर बाह्यपदार्थोंकी आशा रखना यह सब आत्माके पतनका ही कारण है तथा भोगोंके अनुभवमें केवल अशांति है।

भैया, खब ध्यानसे समझते जावो, जो भी आप भोग करते होंगे चाहे आप स्पर्शन इन्द्रियके विषय भोग करते तो आकुलताएँ हैं, कोई रसका स्वाद लिया वहां आकुलताएँ हैं। कोई घ्राणसे सूँघ लिया वहां भी आकुलताएँ हैं। किसी का रूप देखा तो रूप देखनेके कालमें भी आकुलताएँ ही हैं। इस आत्माको विषयोंके प्रसंगमें क्या मिलता है? आकुलताएं ही तो मिलती हैं। भोगसे जितने अनुभव हैं उनमें अशांति ही है। मेरे लिए मैं क्या चेष्टाएं करूँ? मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। अज्ञानमय परिणामोंको लेनेका मैं क्यों यत्न करूँ।

देखो भैया, जिसने अपने आपको सावधान बनाया वह है ज्ञान परिणाम और जिसने अपने आपके होश को खो दिया वह है अज्ञान परिणाम। आरम्भ है, परिग्रह है, कुटुम्ब लगा है, आत्माके होशको खो दिया है, ऐसे ये सब अज्ञानमय परिणाम हैं। ज्ञानमय परिणाम वे हैं जिसमें महंत संतोंकी रुचि जगे, अपने आत्माके ध्यानकी प्रीति हो, भगवान्‌की भक्ति उत्पन्न हो, ऐसी जहां सावधानी रहती है वे सब हैं ज्ञानपरिणाम, और बाकी जितने सब मोहके प्रसंग हैं वे सब हैं अज्ञानपरिणाम। मैं ज्ञानी होकर अज्ञानपरिणामोंमें क्यों लगूँ। मेरी तो केवल जानन ही क्रिया है। ये जितने भोगके ख्याल हैं वे सब मेरेसे भिन्न हैं। वे मेरे स्वभावरूप नहीं हैं। और जिन पदार्थोंके भोगनेका ख्याल बना है वे पदार्थ मुझसे अत्यन्त जुदे हैं। मेरा तो पुद्‌गलोंमें अत्यन्ताभाव है। फिर ऐसे बिल्कुल भिन्न पदार्थोंके लिए मैं क्या चेष्टा करूं?

अरे दुर्लभसे भी दुर्लभ जो अपने ज्ञानानन्द निधानकी दृष्टि है वह दृष्टि जगनी चाहिए। जिन्होंने भी आनन्द पाया, शांति प्राप्त की, उन्होंने केवलज्ञानके बलसे प्राप्त की। इस आत्माका धन मात्र ज्ञान है। ज्ञानको छोड़ कर अन्य किसी बातमें धनकी कल्पना करनेका फल क्लेश ही है। चाहे रहना कहीं पड़े, मगर अपनी श्रद्धासे न चिगो। अपनी श्रद्धा यथार्थ बनाओ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं। मेरा धन मात्र ज्ञान है। मेरा काम मात्र जानने का है। मेरा सर्वस्व केवल ज्ञान है। जिस दिन इस भवको छोड़कर जाऊंगा तो अपने ज्ञानप्रकाश स्वरूप को ही साथ ले जाऊंगा।

एक सेठ जी थे वे। इतने कंजूस थे कि अपने घरोंकी चाबियां अपने ही पास रखते थे। अपने लड़कोंको नहीं देते थे। जब सेठ गुजरने लगे तो बच्चोंसे बोले कि ऐ बच्चों लो ये चाबियां ले जावो। यह इस घरकी चाबी है, यह उस घरकी चाबी है। बेटे कहते हैं कि पिता जी हमें चाबियोंकी जरूरत नहीं है, आप अपने साथमें लिए जाइये। भला बताओ कि मरने पर चाबी साथमें कैसे ले जाये? एक अणुमात्र भी तो साथमें नहीं ले जाया जा सकता है। केवल एक ज्ञानस्वरूप यहांसे निकल जाता है। तो सब कुछ यहांसे छूटना है। अपने चैतन्यस्वरूप को ही अपना धन समझो। ऐसा सच्चा विश्वास बनाओ तो जरूर कल्याण होगा।

भैया, सच बातकी समझ करनेमें कौनसी कठिनाई है? कल्याण केवल भावोंसे है। उसमें न मनका श्रम करना है, न वचनका श्रम करना है, न शरीरका श्रम करना है, केवल अपने भाव बनाना है। सो अपने शुद्धभाव बनाओ तो मोक्षमार्ग मिले। गृहस्थी हैं तो क्या यह एक धर्म नहीं है? गृहस्थी भी एक धर्म है, साधु भी एक धर्म है, पर श्रद्धान् और ज्ञान है तो धर्म है, पर विकल्प किया तो कितनी ही व्यवस्थाएं कर डालो उससे धर्म नहीं होता है। सो भाई इन भोगविषयोंकी प्रीतिको तजो। ये विषयभोग आत्मासे च्युत करानेके कारण हैं। और उन भोगोंके अनुभवके समयमें केवल आसक्ति रहती है। सो इनसे दूर रहनेकी मैं चेष्टा करूँ और अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।

स्वयं भिन्ने च किं हेयं भिन्ने काऽऽदेयता मम।
अतर्क्यो ज्ञानमात्रोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१२॥

देखो अपना आत्मा ही मात्र एक अपना है। आत्मातिरिक्त अन्य सब पदार्थ मुझसे अत्यन्त जुदा हैं। जो जुदा है वह आपसे अलग है, पर उन बाह्यपदार्थोंमें जो आत्मीयताकी बुद्धि लगी है वह छोड़ना है। वे तो छूटे ही हैं। आप यहां बैठे हैं तो घर चिपटाकर तो नहीं बैठे हैं। वह घर तो उस ही जगह पर पड़ा हुआ है। वह घर आपके साथ नहीं है। घरको क्या छोड़ना है। घरमें जो ममता बुद्धि है कि यह मेरा है, इस प्रकारकी जो भीतरमें ममता लगी है उस आशयको त्यागना है।

भैया, अत्यन्त भिन्न इन पदार्थोंमें से कौनसे पदार्थ ग्रहण करनेके योग्य हैं? ग्रहण करने योग्य तो केवल अपने आपका नित्य सदा प्रकाशमान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो सहज चैतन्यस्वरूप है वह ग्रहण करनेके योग्य है। अपनी आत्मा अपने हाथसे या इन्द्रियोंसे नहीं ग्रहण किया जाता है किन्तु मात्रज्ञानबलसे ग्रहण किया जाता है। ज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूपको ग्रहण करना है और ज्ञानके ही द्वारा अपनेमें होने वाले विकार और विकल्पोंको त्यागना है। फिर यह तो सिद्धका सिद्ध ही हो गया।

यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा तर्कसे परे हूं। कोई कहे कि मुझे आत्मा दिखा दो तब हम अपनी आत्माको कैसे दिखा दें? आत्मा तो दिखती ही नहीं है। कोई कहे कि हमें समझा दो तब हम मानें। दूसरा कैसे समझा दे? दूसरेकी समझकी चेष्टासे दूसरोंमें समझ तो नहीं उत्पन्न होती। परकी परिणमतिसे परमें कुछ सुधार बिगाड़ नहीं होता। तो फिर कैसे समझाया जाय? यह आत्मा अतर्क्य है, तर्कसे परे है। हम को तो हम ही समझा सकते हैं। कोई किसीके समझाये नहीं समझता। आपके ज्ञानका जब वैसा परिणमन नहीं हैं तो आप नहीं समझ सकते हैं। जैसा कोई गलत बात बोल रहा है और आप गलत समझ रहे हैं, पर गलत बोलने वाला अपने आपको गलत नहीं समझ सकता फिर वह कैसे गल्ती मानेगा? यह सब एक कषाय ही समझिये।

जब मेरे ही ज्ञानका उस प्रकारका परिणमन हो तो मैं समझा कहलाऊँगा। स्कूलमें मास्टर लोग कितना उपदेश देते हैं, पर यदि बच्चे जब अपने ज्ञानके परिणमनको उस प्रकारका बनाते हैं तो समझ जाते हैं और यदि अपने ज्ञानका परिणमन वैसा न बनाया तो नहीं समझ सकते हैं। मैं आत्मा तर्कसे परे हूं अर्थात् स्वानुभवगम्य हूं। अपने आपको तो अपने ज्ञानके स्वरूपके विचारमें लगा दो, आखिर जानें तो कि कैसा स्वरूप है? जाननेका क्या लक्षण है? जाननेका ज्ञान अगर हम करते जायें तो हम आत्मामें झट लग सकते हैं। अहो ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं। तर्कोंसे परे यह ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं। इसको छोड़कर बाकी सब चीजें हमसे अत्यन्त पृथक हैं। छोड़नेकी चीज क्या है? ममता। घरको छोड़ें और ममता न छूट सके तो यह छोड़ना नहीं कहलाता है। घरमें भी रहते हैं और ममता नहीं है तो घरमें रहना नहीं कहलाता है। घर ही एक बंधन है और ममतासे ही तो सारे संकट हैं।

भैया! जिसको अपने आप पर दया हो, अपने आपको सुखी रखना हो तो चुपचाप, कोई किसीके जाननेकी बात नहीं है, कोई घोषणा करनेकी बात नहीं है। केवल अपने आपमें ही विचारते हुए, अपने आपमें सोचते हुए भीतरकी ममताको निकाल दो। घर वही है, वैभव वही है, संभाल वही

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, व्यवस्था वही है, केवल एक ज्ञानके विकासमें अन्तर हो गया। आप यदि यह मानते जाओ कि यह मेरी विभूति है। उसमें जो अड़चनें आ जातीं तो ये दुःखी हो जाते हैं। जब यह समझ लिया कि मेरा कुछ नहीं है तो दुःख नहीं होता है। जैसे जब तक लड़की की शादी नहीं होती तब तक वह लड़की अपने घरको अपना घर समझती है और बापके घरमें अगर कुछ हानि हो गयी तो उस लड़कीको भी चिंता हो जाती है और जब शादी हो गयी तो वह लड़की समझती है कि मेरा घर तो वहां है। सो बापके घरमें रहते हुए भी वहांकी कोई चिंता नहीं रह जाती है। मान लो पिताको यहां कुछ बरबाद हो गया तो उस लड़कीको कोई विशेष चिंता नहीं होती है।

सो भैया, जब जहां जैसी ममता है तब उसका वहां संकट है सो बाधा कहिए, बन्धन कहिए वह केवल ममता है। ममताके कोई हाथ पैर नहीं हैं। कोई पौद्गलिक स्वरूप नहीं है। केवल एक कल्पनाकी बात है और देखो हमारे घरमें हमको क्लेश नहीं होते कि यह मेरा घर है। दूसरोंके घरमें दूसरोंको क्लेश नहीं होता कि यह मेरा घर है। पर कैसा रंग चढ़ा हुआ है कि हैं बिलकुल पराई चीजें, मगर जो जहां पैदा हो गया वहां भी ऐसा रंग चढ़ा कि यह सर्व वैभव है, है वहां कुछ नहीं। केवल अकेले ही नाना हो गये। सो भाई पदार्थ तो सब भिन्न हैं, उनसे छुड़ा लेना कुछ नहीं है। केवल अपनी ममता परिणाम छुड़ाओ और सुखी होओ।

किञ्चिदिष्टमनिष्टं न कल्पना क्लेशदा भ्रमे।
नाहमज्ञानरूपोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१३॥

संसारमें न कोई इष्ट है, न अनिष्ट है तो किसे आप इष्ट कहेंगे? जो पदार्थ रुचे वह मेरे लिए इष्ट है और जो न रुचे वह अनिष्ट है। तो इष्ट और अनिष्टमें केवल कल्पना है। कोई पदार्थ इष्ट अनिष्ट नहीं होते हैं। आपके घरमें जो जीव पैदा हो गये उनको आप इष्ट मानने लगे और जो जीव दूसरेके घरमें पैदा हो गये उनको अनिष्ट मानने लगे। तो जिन जीवोंके अज्ञानकी दशा पड़ी है, जिन जीवोंके मोहकी प्रकृति पड़ी है उनके इष्ट अनिष्ट की बुद्धि है।

ज्ञानकी जो वृत्ति है उसके अलावा और जितने भी परिणाम हैं वे सब स्थूल या सूक्ष्म आशारूप परिणमन आदि जिनमें हम फसे हैं वे सब अज्ञान हैं। आत्महितकी पद्धति छोड़कर घरका जो ज्ञान है वह अज्ञान है, कुटुम्बका ज्ञान अज्ञान है और अन्यत्र ज्ञान भी अज्ञान है क्योंकि उसमें विवादकी भावना रहती है, अहंकारकी भावना रहती है, कितने ही पुरुष

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ऐसे होते हैं कि वे ऐसा अध्ययन करते हैं कि हम किसी विवादमें हार न जायें। चार आदमियोंमें अपनी शान बनी रहे। यह तो महा मूढ़ता है। चार आदमियोंने अगर जान लिया कि ये कुछ नहीं रहे तो उनके जान लेनेसे क्या तुम्हारी सारी दुनिया बिगड़ गयी? किन्तु ज्यों ज्यों कुछ विकास होता जाता है त्यों त्यों राग आत्मामें घर करता जाता है। जो देहाती लोग होते हैं। उनको अपनी शानकी परवाह इतनी नहीं रहती है। मगर यहां जो धनमें बढ़ गये, त्यागमें बढ़ गये। उनकी अगर कोई बात बिगड़ती है तो वे कहते हैं कि मुंह दिखानेके काबिल नहीं है। वे समझते हैं कि चार आदमियों में मेरी बात बिगड़ गयी है। ऐसी जो भावना बनी है यह बड़ी विकट मूढ़ता है।

भैया किसीको अपना इष्ट मान लिया, अपनी पोजीशन रख लिया तो उससे क्या होता है? पोजीशन बनानेमें यह भाव होता है कि हम लोगों में उच्च कहलावें पोजीशन ऐसे परिणामों वाला है। क्या पोजीशनके कोई हाथ पैर होते हैं? तो ये सब कार्य अज्ञानरूप हैं। तो यह जीव अपने आप ही आपत्तियोंमें पड़ता है। आपत्तियोंमें डालने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। मेरे औपाधिक विकार, संयोगाधीन दृष्टिमें स्वयंको दुःखमें डालने वाले हैं। किसी पदार्थमें यह शक्ति नहीं है कि मुझे दुःखी कर सके। मैं ही अपनी कल्पनाएँ करके दुःखी हो जाता हूं। बाहरी पदार्थ निमित्त बन जाते हैं।

वास्तवमें बाहरी पदार्थ निमित्त नहीं हैं, निमित्त तो कर्म है। बाहरी पदार्थ नोकर्म कहलाते हैं। वे आश्रयभूत रहते हैं। बाह्यपदार्थोंमें हम राग करें तो बाह्यपदार्थ हमारे निमित्त बन जाया करते हैं। जैसे गुहेरा काटता है तो काटनेमें जो उसको जोर पड़ता है तो उसमें वह मूत्र कर देता है। लोकमें प्रसिद्धि है कि अगर गुहेरा काटकर मूत्र ना करे तो आदमी नहीं बचता है। पर गुहेरा किसीको यह जानकर नहीं काटता है कि मेरे काटने से वह मर जाये, सो मैं लेट जाऊँ। यह तो उसका स्वभाव ही है। अगर उसे मूत्र करना है तो वह किसीको भी काटकर मूत्र करे। किसी लकड़ी, ईंट, पत्थर आदिको भी वह काटकर मूत्र कर लेगा। यह तो उसका स्वभाव ही है। इसी तरह इस जीवमें जब रागभाव आते हैं तो उसके रागोंकी बुद्धि ऐसी है कि पुद्गलोंमें बाह्यपदार्थोंका असर बनाकर अपने राग विकार किया करता है। कोई परपदार्थोंमें रागद्वेष की ऐसी बात नहीं है। इसके ही भीतर जब रागद्वेषोंके विकारोंकी परिणति होती है तब जाकर बाह्यपदार्थोंमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि बनाता है। निमित्त है कर्मोंका उदय। जिस कालमें कर्मोंका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उदय होता है उस समय इसके हुमुक पैदा होती है। जो भीतरमें हुमुकका विकार है वह विकार इस प्रकार बनाया है कि किसी पदार्थको आश्रयभूत बनाया तो हम और आप जब भी खोटे परिणाम करते हैं तो बाह्यपदार्थों को आश्रयभूत बनाकर करते हैं। ऐसा नहीं है कि बाह्यपदार्थ स्वयं विकार उत्पन्न करते हैं। बाह्यपदार्थ स्वयं विकार उत्पन्न करें ऐसी योग्यता उनमें नहीं है। बाह्यपदार्थ आश्रयभूत हो जाया करते हैं। आश्रयभूत होनेमें और निमित्त होनेमें अन्तर है। आश्रयभूतमें अविनाभाव नहीं रहता है। इनमें अविनाभाव नहीं है कि चीज जैसे ही आ जाय तो उसमें विकार करना ही पड़े। कर्मोंका उदय एक निमित्तभूत है। कर्मोंका उदय जब आ जाय तो उस कालमें जीवमें विकार उत्पन्न होते हैं। तो बाहरी पदार्थोंसे अपना सुधार बिगाड़ न समझिये। हम ही जब अपनेको बुरा बनानेके लिए उठते हैं तब बपूड़ते हैं दहीकी तरह तो बाहरी पदार्थ तो हमारे विकारोंके आश्रय बन जाते हैं।

भोगश्रमेण दुःखानि भ्रान्त्या भुक्त्वा हतं जगत्।
आयापायेऽपि तापोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–१४॥

श्रमसे भोगका परिश्रम करना, दुःखका भोग करना, हाय ! यह जगत् बरबाद हुआ। और तो क्या ? भोगोंमें संताप और विनाश उत्पन्न होता है। भोगोंके साधक क्या हैं ? रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। रूप, रस आदिक पुद्गल द्रव्योंमें पाया जाता है। तो उन पुद्गल द्रव्योंका इकट्ठा करना यह भोगोंकी कमाई है। ये पुद्गल इनको कोई कमाता है तो कमाने वालोंसे पूछो कि उनको कितना कष्ट उठाना पड़ता है ? कमाई हो जाय तो कष्ट उठाना पड़ता है, रक्षा करते करते भी नष्ट हो जाय तो कष्ट उठाना पड़ता है, कमाईकी चेष्टा करते भी कष्ट हो जाता है। नष्ट हो जानेके दिनोंमें भी कष्ट, स्वागत करते समय भी कष्ट, विदाईके समय भी कष्ट, जिसके मूल में ही कष्ट है उसको ही भोगा जाता है और उससे ही उन्हें संतोष होता है। भोग्य पदार्थ भोगनेमें नहीं आते। आत्मा तो अमूर्त है। अमूर्त आत्मा क्या भोग करे ? इस आत्मामें दूसरे पदार्थोंका प्रवेश ही नहीं है, छुवा ही नहीं है। भोग्य पदार्थ तो पुद्गल हैं। आत्मा तो अमूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मा मूर्तिकका स्पर्श ही नहीं कर सकता है। भोग्य नहीं होता तो अपने उपभोगमें श्रद्धा बनाना है और जीव स्वयं अपने संकल्प विकल्पोंमें महान् परिश्रम करता है और उन्हीं क्लेशोंको सुख समझता है। ज्ञानकी ज्ञानमें स्थिरता हो, यह तो है शुद्ध आनन्द। इस ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव हो यह तो है सुख। खुद बात है कि यह जगत् दुःखमें भी रहकर सुख समझे।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यदि यह दुःखोंमें रहकर दुःखको ही समझता रहता है तो सुखका मार्ग इस को निकल आता है। दुःखमें ही सुख मान लिया तो सुखका मार्ग कहांसे मिल जाय ? यह जीव रागादिकके परिश्रम करता रहता है। जिसको मान लिया कि यह मेरा परिवार है, मेरा भाई है यह कुछ नहीं। उससे बढ़िया-बढ़िया जीव पड़े हैं। अन्यके लिए इसका तन, मन, धन, वचन नहीं खर्च होता है। जिनको मान लिया कि ये मेरे हैं, इसके लिए तो मर का पड़ जाय तो, बीमार हो जायें तो जो कुछ है वह सब लगा दें और यदि कोई पड़ौसी बीमार हो जाय तो उसके लिए कुछ नहीं है। धर्मात्मा पुरुष भी अगर बीमार हो जाय तो धर्ममें ममता है सो थोड़ा बहुत उनमें खर्च कर देते हैं पर दूसरों के लिए खर्च नहीं करते हैं। कैसे ही धर्मात्मा पुरुष हों, कैसे ही साधु हों पर बच्चोंमें जिस तरहसे खर्च करते हैं उस तरहसे उनपर न खर्च करेंगे। वह तो ऐसे हैं जैसे आटेमें नमक। धर्मात्मा पुरुष यदि कोई बीमार हो जाय तो उसके लिए भी जो खर्च करेगा वह अपनी प्रशंसाके लिए करेगा। अरे प्रशंसा क्या है ? यह तो बुरे कर्मोंकी बात है। ज्ञानी और धर्मीजन जो भी हैं उनका उपकार करना धर्मके लिए अपना प्रथम कर्तव्य है। और अगर ऐसी भावना आती है तो धर्मके लिए सब कुछ ठीक है। अगर कुटुम्ब परिवारमें ही बुद्धि रही तो धर्मकी उपेक्षा है। सो जिस कुटुम्बके लिए तुमने अपना तन, मन, धर्म समर्पण कर दिया है उससे सुख मिलेगा, ये सब झूठ बातें हैं। उससे सुख न मिल सकेगा। खुद ही मोह करके, खुद ही कल्पना करके खुदको बरबाद किया करते हैं। इससे तो आत्मीय सुख नहीं मिल सकता है। और यदि धर्मात्माजनोंकी सेवामें तन, मन, धन, बचन लगादें तो उन्हें शांति मिलेगी। पर मोहका ऐसा प्रबल उदय जगजनोंपर छाया है कि भोगोंके ही सुख भोगते हैं और कुटुम्ब परिवार आदिकके भोग आश्रयभूत हैं जिसके कारण उनके लिए सब कुछ करनेको तैयार हैं। यह सब दुर्दशा अपने आपके अश्रद्धानसे है। मैं तो चैतन्य चमत्काररूप होने के कारण भोग विषय रागादिक भावों को दूर करके अपने चैतन्यभावोंमें ही रहूं और इस विधिसे अपने लोग सुखी हों। अपने सुखके लिए दूसरोंमें कोई आशा रखना ऐसी मूढ़तापर भगवान् ही हंस सकेगा, पर संसारके जीव न हंस सकेंगे। बेवकूफी पर ही हंसी आती है। अपने लोगोंको तो अपनी बेवकूफी दिखती नहीं। वह भगवान् ही सब कुछ देखता है सो वह ही हंसी कर सकेगा। भगवान् हमारी आपकी बेवकूफी पर ही हँसते हैं। सो यह बेवकूफी भी है मोहवश। बिल्कुल कोई मोह छोड़ दे तो उसको शांति है। इस संसारमें रुलने वाले प्राणियों में विवेक आना बहुत कठिन है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अतेप्यहं त्वमज्ञत्वं स योगी ज्ञो न दुःखभाक्।
प्रीतिर्मे नास्तु कस्मिंश्चित्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१५॥

व्रतमें भी यदि अहंका परिणाम है तो वह अज्ञान है। तपस्या करना, परोपकार करना, धर्म साधना करना इनमें यदि मैं अहंबुद्धि करता हूं तो यह अज्ञान है, बड़ी ऊँची तपस्या भी करली, बड़े अच्छे-अच्छे काम कर लिए पर यदि अहंभाव आ जाय कि मैं तपस्या करता हूं, मैंने यह किया, मैंने वह किया, ऊँचे ऊँचे व्रत मैंने ले रखे हैं, ऐसा श्रद्धान बन जाय तो वहां मिथ्यादर्शन है। श्रद्धान तो यह होना चाहिए कि जैसा आत्माका सहज स्वरूप है वैसा ही देखें। जैसे लोकमें कहते हैं कि हमारा तो खानेका काम है, हमारा तो संसारमें माया बढ़ाने का काम है सो नहीं। हमारा आपका तो मुख्य काम आनन्द बढ़ानेका है। हमारा तो आनन्दका काम है। सो आनन्द तो सबसे निराले अपने शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपमें मिलता है तो अन्य प्रकारकी बुद्धि क्यों करते हो ? यदि वह ज्ञानस्वरूप मिल गया तो सारे संकट मिट गये। लोग कभी-कभी सोचने लगते हैं कि अगर हम अकेले रह गये तो क्या करेंगे ? अरे कोई क्षण ऐसा आ जाय कि अकेले रह जावो तो इससे बढ़कर और वैभव क्या होगा ? सो अकेलेपन की बात भी सोचकर लोग दुःख मान लेते हैं। और अकेले तो सबको होना है। यह जगत् बड़ा गोरखधंधा है। जितने घरके लोग हैं उनमेंसे अनेक अपने जीवनमें मरेंगे। सो जब वे मरेंगे तब रोवेंगे। अन्य लोग समझाने आयेंगे तो फिर ये महीनों रोते रहेंगे। मरकर तो अकेले ही जायेंगे। क्या ऐसा भी कोई घर है जिसमें मरनेका सिलसिला न हो। प्रीति करते हो तो वियोग होगा। वियोग होगा तो क्लेश होगा। बुद्धिमानी तो यह है कि मिले हुए समागममें भी प्रीति न करो। केवल ज्ञाता द्रष्टामात्र रहो, अनुराग न करो, आसक्ति न करो, तो बाहरी पदार्थोंमें जिनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है, मेरेमें जिनका अत्यन्ताभाव है, ऐसे पदार्थोंमें यदि अहम्भाव हो, अहंकारका आश्रय हो तो उस मूढ़ताका कहना ही क्या है। वे योगी नहीं हैं, वे ज्ञानी नहीं हैं जो अपने इन व्रतादिक परिणामोंमें भी अहंका भाव रखते हों। वे दुःखके पात्र हैं। आत्मानुशासनमें लिखा है कि ज्ञान ध्यानमें आकर मुनि महाराज सोचते हैं कि मैंने बड़े-बड़े काम किये, तपस्या की, सामायिक किया, ये सब अज्ञानकी चेष्टाएं हैं। ऐसा जिन मुनिराजका परिणाम है, अभी सोचो कि सामायिकमें बैठे थे, ज्ञान ध्यान किया था तो ऐसा सोचना भी अज्ञानकी चेष्टा है। जो यावन्मात्र आश्रयभूत हैं वे सब अज्ञान माने गये। निर्विकार ज्ञानका जो शुद्ध विकास है उसको ज्ञान माना गया है। अब आप समझलें कि अज्ञान का कितना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गहरा रंग लोगोंपर चढ़ा है ? सब अपनी अपनी चेष्टाओंसे समझते हैं कि हम ज्ञानका काम कर रहे हैं। कोई अपनेको मूर्ख नहीं समझता। अपनेको कोई नहीं समझता कि मैं गलत हूं। जो चेष्टा करते हैं उसमें अपना विवेक समझते हैं कि मैं सही मार्ग पर हूं। सही मार्ग कैसा है ? सही मार्ग तो वह है जहाँ किसी का ध्यान नहीं रहता है। केवल शुद्ध ज्ञान प्रकाश ही सामने रहे। जो व्रतादिककी चेष्टाएँ सामने हैं वे सब अज्ञानकी चेष्टाएं हैं। जो चेष्टाएं अरहंतमें होती हैं वे ज्ञानकी चेष्टाएं हैं। जब ज्ञानकी चेष्टाएं होती हैं तब किसी परपदार्थका उपयोग नहीं रहता है। मन, वचन, कायकी चेष्टाएं नहीं रहती हैं। ऐसी निर्विकल्प दशाको ज्ञान परिणमन कहा गया है। सो मेरी किसी भी पदार्थसे प्रीति न हो, जिससे सब भवोंमें भी आत्मीयताका भाव होता रहता है। एतावन् मात्र मैं हूं, जाननमात्र ही मेरा परिणाम है, जाननमात्र ही मैं हूं। जहां ऐसी भावना बनी रहती है कि मैं साधु हूं, मैं मुनि हूं, मैं त्यागी हूं, यह सब अज्ञान का परिणमन है। यह भाव क्यों नहीं आता कि मैं सबसे निराला एक चैतन्यमात्र सत् हूं। तुम कौन हो, ऐसा पूछनेपर यह उत्तर आये कि मैं तो एक चैतन्यस्वरूप वस्तु हूं। लेकिन जिनका यह श्रद्धान रहता है कि मैं तो त्यागी हूं तो पद पद पर क्रोध आने लगता है। मेरी समाजमें अच्छी पूछ नहीं हुई, मैं तो त्यागी हूं, यह विचार बनानेसे ही क्रोध आ जाता है। कोई बराबर पर बैठ गया। यह सोचा कि मैं तो त्यागी हूं। मेरे बराबर पर कैसे बैठ गये? बस क्रोध आ जाता है। बोलते हैं कि तमीज नहीं है जो कि बराबर पर बैठ जाते हो। अरे तमीज तो उनके नहीं है जो अपनेको यह सोचते हैं कि मैं त्यागी हूं। ऐसा परिणाम रहे कि मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। जानन ही मेरा कार्य है। इसके अतिरिक्त सब अज्ञान है सो मैं अज्ञानमय परिणामको दूर करूँ। जो यह संस्कार रहता है कि मैं मुनि हूं, त्यागी हूं, यदि यह संस्कार है तो आत्माके चैतन्यव्यवहारसे अलग कर देता है। इस कारणसे ऐसा परिणाम ऐसा व्यवहार भोग नहीं है वह तो वर्तमानमें भी बड़े विकार का खेद कर रहा है, परिश्रम कर रहा है। कितने खेदकी बात है कि परपदार्थोंमें भाव करने से निर्विकल्पका मार्ग यह जीव नहीं ढूँढ़ पाता है। हे चैतन्यप्रभु ! तेरे दर्शन हों तो मेरा सारा भ्रम मिटे। तेरे दर्शनके बिना मैं चाहूं कि किसी परमानन्द की स्थितिको मैं पहुंच लूँ सो ऐसा नहीं हो सकता है। सो अब मेरी किसी भी परपदार्थसे प्रीति न हो, प्रीति हो तो ऐसा दर्शन करनेकी प्रीति हो कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं। जानन मेरा कार्य है और जानन ही मेरा सर्वस्व है। सो मैं अपने आपमें लीन होऊं और सहजमें सुखी होऊं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कातरो लोकदृष्ट्याऽस्मि स्यां लोका न सहाटिनः ॥
मोहस्वप्नमिदं दृश्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१६॥

मैं लोक की दृष्टिसे कायर हूं तो लोक मेरे साथ तो कुछ भ्रमण करने वाला है नहीं अर्थात् यदि मैं अपने स्वरूप रमणरूपी धर्ममें लगता हूं तो लोगोंको ऐसा प्रतीत होता है कि ये कायर है। कुछ करते नहीं बना और करते नहीं बना तो त्याग ले लिया। विकल्पों से लोग मुझे कायर मानते हैं तो मानो। वे लोग मेरे साथ भ्रमण करने वाले तो नहीं हैं। न मेरे साथ आये हैं और न मेरे साथ जायेंगे। फिर यह सब मोह का स्वप्न है। जो कुछ दिखता है कुछ समयके लिए है, खिर जायगा और जब तक ये सामने हैं तब तक भी ये मेरे किसी काममें आनेके नहीं हैं क्योंकि परपदार्थ अपनी स्वरूप सत्ता रखते हैं। किसी पदार्थका कोई पदार्थ स्वरूपतः दखल नहीं है। निमित्त तो भले ही हो जाते हैं पर अपना स्वरूप नहीं सौंप देते हैं। अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपना ही रहता है। तो ये सारे दृश्य मोहके स्वप्न हैं जैसे नींदमें जो स्वप्न देखते हैं वह यथार्थ तो नहीं है किन्तु उसकी भित्ति केवल कल्पना पर है। इसी प्रकार जो कुछ ये सब दिखते हैं यद्यपि वे सब अपने आपमें अपने पर्यायरूप हैं पर उनके लिए मेरी तो कल्पनामात्र है क्योंकि किसी परसे कुछ मुझमें सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने गुणोंमें हूं, अपने ही गुणोंमें परिश्रम करता हूं, पर का मैं कुछ काम नहीं करता। मैं अपना अपने आपमें हूं--ऐसा ही जानता हुआ मैं अन्य कुछ परिश्रम न करनेकी श्रद्धा रखकर अपने द्वारा अपनेमें ही अपने विकासके अनुसार गुप्त और सुरक्षित रूपसे अपने आपको पोषणमें लेता हूं तो लोग मेरे मन, वचन, कायका बाहरी स्वरूप देखकर ऐसा कह देते हैं कि ये कायर हैं मेरा तो अपना अखण्डस्वरूप है। मैं अपने स्वरूपास्तित्वमात्र हूं। मैं अन्य कुछ नहीं हूं। लोग मेरे साथ न आये और न जायेंगे। यह सारा मोहका स्वप्न है मैं दूसरोंके कहनेमें आकर, दूसरोंके कहनेका प्रतिभास अपनेमें विस्तार कर मैं अपनेको कायर क्यों बनाऊं, मोहांधकारमें क्यों पड़ूं क्योंकि जो मेरेमें प्रत्यक्षीभूत स्वरूपका अनुभव है बस यही मेरे ज्ञान और सुखका रूप है। सो अपनी सब अवस्थाओंका जुम्मेदार मैं ही हूं। मैं सर्व लोगोंका निरीक्षण आदि सबको त्यागूं अर्थात् लोग मुझे अच्छा कह दें, इस भावनाको त्यागूं क्योंकि उनके अच्छा कह देनेसे मेरेमें सुधार क्या होगा? आखिर वे भी तो मोही जीव हैं जो सुख दुःखके भोगने वाले हैं। खुद मोही कलंकित जीवों के अच्छा कह देने मात्रसे यहां मेरा कुछ हित नहीं हो जाता। हित तो मेरा भगवान्की उपासना से ही होगा। भगवान् तो एक प्रकाशक है। जैसे सूर्य है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसकी मुद्रा हमें सच्चा मार्ग बतानेका कारण है। प्रकाश तो उस सूर्यके निमित्तसे मिला, पर चलना तो हमारा ही काम है। जैसे सूर्यके निमित्तसे हमें प्रकाश मिला और चलना हमारा काम है उसी प्रकार हमें भगवान् जिनेन्द्रदेवका प्रकाश मिला कि सर्व पदार्थ स्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। अब उस प्रकाशको लेकर हम लाभ उठायें और उस प्रकाशमें लाभ क्या है ? मैं विषय कषायोंको त्यागकर अपना ज्ञानमय परिणमन बनाकर शांत होऊं।

स्व बाह्ये न हितं किञ्चित्किं कल्पे शृणवानि किम्।
जानानि किं च पश्यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१७॥

अपनेसे बाह्यमें कहीं कुछ हित नहीं है। फिर मैं क्या सोचूँ, क्या सुनूँ, क्या कल्पनाएँ करूँ और क्या देखूँ ? मैं तो अपने आपमें अपने लिए सुखी होऊँ। अपने स्वरूपसे बाहर अपना कहीं कुछ भी हित नहीं है, हित तो इसमें ही मात्र है कि बाहरसे दृष्टि हटा कर, अपने शरीरसे भी दृष्टि हटा कर, अपने आपको किसी पर्याय, किसी मुद्रारूप न मानकर केवल अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप ही अपने को मानें तो इस ही श्रद्धामें, इस ज्ञानमें मेरा हित है और अपने इस उपयोगके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारकी कल्पनाएँ करना व्यर्थ है। बाह्यका आश्रय बनाकर रहनेमें मेरा हित नहीं है। हित तो कषायोंमें है ही नहीं। अपने आपकी पर्यायोंमें अहंकारका भाव न हो। यहां तक कि यदि अपने आपमें मैं साधु हूं, मैं मुनि हूं, मैं क्षुल्लक हूं इस प्रकार का यदि प्रत्यय रहे तो वहां भी शांतिका मार्ग नहीं है और इस श्रद्धा में तो सम्यक्त्व भी नहीं है। जो कुछ मलिनताएँ दिखती हैं वे सब कषायोंके परिणाम हैं। इन कषायोंका फल तो आकुलताएँ ही हैं। मैं तो स्वरूपतः ज्ञायकमात्र हूं। मैं ज्ञायकस्वरूप अपने आप में अपने आपकी श्रद्धा रखूँ तो मुझे शांति प्राप्त हो सकती है। अपनेसे बाहरमें कोई भी मेरा कुछ हित नहीं है। फिर मैं किसे सोचूँ ? किसको जानूँ ? मैं तो अपने आपमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ। मेरा हित तो मात्र इसीमें है कि मैं ज्ञाता द्रष्टा रहूं, अपने आपमें इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि न रखूँ। मैं छोटा हूं, मैं बड़ा हूं इस प्रकारकी कल्पनाएँ न हों। अपनेको ज्ञानमात्र देखकर ऐसा ही परिणाम बने कि जो चैतन्यस्वरूप है वही मैं हूं और वही चैतन्यस्वरूप ये हैं। अपनेसे बाह्यपदार्थोंमें लगनेसे मेरा कोई हित नहीं है। फिर मैं क्या सोचूँ, क्या जानूँ, क्या देखूँ ? किसी परपदार्थके सोचनेमें कलुषता ही होती है। मिलता कुछ भी नहीं है। तो मेरे सोचनेमें परपदार्थ मत आओ। यदि ऐसी स्थिति बन सकती है कि मेरे सोचनेमें कोई पदार्थ न आये और अपनेको सोचूँ कि मैं ज्ञानमात्र हूं तो मैं सुखी हूं। किसीकी बातें सुननेमें कलुषता ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। अपने ज्ञायकस्वभावमें हमारी इतनी अधिक रुचिपूर्वक दृष्टि हो कि हमारा किसी भी पदार्थके सोचनेको मन न चाहे। मैं किसे सोचूँ ? किसकी सुनूँ, किससे कहूं और किससे बोलूँ ? बोलनेसे भी कुछ न कुछ अपने उपयोगमें मलिनता आती है, परकी ओर दृष्टि होती है, फिर भी बोलता हुआ में जितना अपने आपका ध्यान रखता हूं और जितना मैं परकी ओर लगता हूं उतना ही यह मैं आत्मा परकी ओर हूं। जो कुछ भी कहा उसका अर्थ अपने आप पर घटाओ। जब भी कोई उपदेश देवे, धर्मकी बात कहे तो उसको अपने आपमें घटाओ। यदि वस्तुस्वरूप की विवेचना करो तो अपने आपका वस्तुस्वरूप झलके, इस प्रकारकी स्थिति बने तो ऐसी पद्धतिसे वस्तुस्वरूपकी विवेचना करो कि मेरे करने लायक जो है उसे मैं कर सकूँ, मुझमें जो वृत्ति है उसको देखनेकी शक्ति बढ़ा सकूँ— इस प्रकार की भावनासे दूसरोंके चरणानुयोगकी सत्ता द्वारा कोई भी कुछ कहे तो उस कहनेसे क्या धर्म हुआ, क्या अधर्म हुआ ? यह जानकर अधर्मसे तो दूर हों और धर्म में लगें। अपनी वृत्ति रखें और ऐसा ज्ञान जगायें। इस पद्धतिसे प्रथमानुयोगका उपयोग दें। प्रथमानुयोगका उपदेश देते हुए कर्मस्थितिकी जो रचना है उसका वर्णन करें तो उससे भी अपनेमें कुछ शिक्षा लेवें। कैसा यह लोक है ? मैं इस लोकमें परपदार्थों पर अनन्तबार जन्म ले चुका हूं और मरण कर चुका हूं। इस जगतमें जो वैभव है, उसे अनन्तबार भोग चुका हूं। इस प्रकार दृष्टिसे इस लोककी विवेचना करें और अपने परिणामोंके सुधारकी दृष्टिसे अपने परिणामोंका वर्णन करें। यों जब हम बोलें तो इस प्रकारके साधन सहित बोलें। आत्मत्वकी बात पर जो साधक हो उसको ही सुनूँ, उसे ही कहूं, फिर सुनता कहता हुआ भी ऐसा विश्वास बनाऊँ कि ऐसा सुनना और ऐसा कहना मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा हित नहीं है। मैं इस श्रद्धासे विचलित न होऊँ। इस प्रकार मेरेसे बाहर मेरा हित नहीं है। मैं किसे जानूँ, किसकी सुनूँ ? सुनने जाननेमें परपदार्थ आते हैं तो आवें; परकी ओर आनेमें मुझे क्या मिलता है ? मैं तो एकस्वरूप हूं। मैं किसे देखूं ? मैं तो अपने स्वरूपको जानकर अनुभव करूँ और अपने आपको देखकर स्वयं सुखी होऊँ।

देहोऽस्तु वा न को लाभः का हानिर्मे तु शान्तिदा।
ज्ञानदृष्टिः सदा भूयात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१८॥

देह हो अथवा न हो। इससे मेरा क्या लाभ है ? मेरी तो शांति देने वाली ज्ञानदृष्टि सदा रहे। जितने भी क्लेश होते हैं वे सब क्लेश केवल अपने कषायोंसे हैं। बाह्यपदार्थोंसे कोई क्लेश नहीं, क्योंकि बाह्यपदार्थ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्लेश करनेमें समर्थ ही नहीं होते। वे तो अपने परिणमनमें निरंतर लग रहे हैं। मुझे बाह्यमें करनेका कुछ अवकाश ही नहीं, और कर भी नहीं सकते। इस तरहसे मैं जो कुछ करता हूं अपनेमें करता हूं। अपने ही परिणमनमें निरंतर लगा रहता हूं। मेरेमें तो अवकाश ही नहीं कि मैं किसी पदार्थको देखूँ, किसी पदार्थमें कुछ करूँ और मैं कुछ कर भी नहीं सकता। इस कारण बाह्यपदार्थोंमें कोई दृष्टि न दे। देह रहे तो क्या, अपनेमें अखण्ड स्वरूपास्तित्व पर इतना दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि मैं सबसे पृथक अपनी प्रीतिमें रहूं। देह अपने पास रहे तो क्या, न रहे तो क्या उससे कुछ लाभ हानि नहीं हो सकती प्रत्युत हानि हो सकती है। देहकी ओर दृष्टि जाय तो देहको मान लिया कि मैं हूं तो इसमें भ्रम और रागका आश्रयभूत हो जाता है। इसलिए देहके सम्बन्धमें हानि तो अनेक हैं पर देहके होने पर इस आत्माको लाभ कुछ नहीं है। मुझे तो आत्मदृष्टि मिले जो कि शांति देने वाली है। देहके होनेसे तो सब भूख प्यास आदि उत्पन्न होती हैं। इस शरीर पर दृष्टि जानेमें आत्मविकार होता है और वह आत्मविकार दुःखका ही कारण है। यह देह न रहे तो इसमें ही शांति है। देहके उपयोगमें या यथा-तथा वृत्तिको देखकर आत्मसात्‌में दुःखी होना केवल मोहांधकारमें एक प्रलाप है। यदि इस देहमें दृष्टि न रहे तो यही शांतिकी प्रबल दायिका है मेरी तो ज्ञानदृष्टि ही सदा रहे। यही ज्ञानदृष्टि ही हमें शांति देने वाली है। ऐसी दृष्टि उत्पन्न हो, ऐसा भेदविज्ञान उत्पन्न हो जिससे यह स्पष्ट अनुभव हो सके कि यह मैं ज्ञानाघन अविनाशी अत्यन्त निर्मल सहज आनन्दस्वरूप हूं। इस ब्रह्ममें ऐसी दृढ़ प्रतीति रहे जिससे परके लक्ष्यसे बाहर होकर मैं अपने आपमें सहज स्थान पाता हुआ अपने आप सुखी होऊँ।

न मे द्वन्द्वो न मे संगः सर्वकृत्यं हि मत्पृथक्।
कस्मै स्यामाकुलोऽद्वैतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१९॥

मेरा द्वन्द्व नहीं। द्वन्द्व कहते हैं दो को। मैं दो नहीं हूं। मेरे दो कुछ नहीं हैं। मैं स्वयं हूं। मेरे में मैं ही हूं। मेरे में द्वन्द्व नहीं, मेरा किसीसे सम्बंध नहीं। ये सब कार्य इससे पृथक् हैं। जितना जो कुछ है वह सब इससे पृथक् है। अपने आपमें ऐसा प्रज्ज्वलन बनाओ, ऐसा अपने आपको नम्र और विनीत बनाओ, अपने आपमें ज्ञानानन्दस्वभाव आत्मप्रभुकी उपासनामें अपने आप को इतना नम्र बना डालो कि मान कषाय आदि का कुछ भी उदय न हो सके ऐसी स्थितिमें यह आत्मार्थी पुरुष अपने आपमें बड़ी सूक्ष्मतासे प्रवेश करता हुआ ऐसी स्थितिमें प्रवेश पा लेता है कि जिसमें एक सहज आनन्दस्वरूप का अनुभव होता है। ऐसा यह मेरा अपने आपके अनुभवका चमत्कार है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मेरा द्वन्द्व नहीं है। मेरा परिग्रह सम्बन्ध नहीं है। बाह्यके ये सब कार्य मुझ से पृथक् हैं। फिर किस लिए मैं आकुल होऊं। अकेला यह मैं आत्मा अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

मैं तो एक स्वयं निर्मल प्रकाशमात्र अखण्ड चैतन्यतत्त्व हूं। यदि बाह्य चीजें कुछ मेरी परिग्रह हो जायें तो इसका अर्थ यह निकलेगा कि मैं जड़ बन गया, क्योंकि बाह्यपदार्थ जो द्रव्यवान् हैं वे पदार्थ मेरे हो गये। क्योंकि जिसका जो होता है उसमें वह तन्मय होता है। पुद्गलका रूप गुण पुद्गलमें तन्मय है। इस तरह यदि पुद्गल मेरे हो जायेंगे तो मैं पुद्गल में तन्मय हो जाऊंगा। यह हो नहीं सकता है। परपदार्थ अपना अस्तित्त्व लिए हुए हैं। यदि बाह्यपदार्थ मेरे परिग्रह होते हैं तो ऐसा नहीं हो सकता है। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। सर्वपदार्थ मुझसे पृथक् हैं। सर्वपदार्थोंका स्वरूप चतुष्टय अत्यन्त पृथक् है। मेरेमें जो भ्रमादिक होते हैं वे मुझसे अत्यन्त पृथक् हैं। जगत्के जीव सब मुझसे पृथक् हैं। फिर यहां कौन ऐसा पदार्थ है जिसकी प्रीतिके लिए अपने को केवल व्याकुल करूँ। आत्माको कोई पदार्थोंसे हित नहीं हैं। तो फिर किस पदार्थसे यह मैं आत्मा आशा रख सकूँ। मैं सबको छोड़कर केवल शुद्ध अत्यन्त हल्के भाररहित, जहां तनका भी भार न हो, ऐसी शुद्धज्ञानानन्ददृष्टिरूप मेरी स्थिति हो सकती हो तो मैं सुखी हो सकता हूं। इसके अतिरिक्त कुछ भी सोचें, कुछ भी विकल्प करें उससे तो मेरी सुखकी स्थिति आ ही नहीं सकती। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं, सर्वपदार्थ मुझसे अत्यन्त पृथक् हैं। केवल अपने आपको चेतूँ कि मैं अपने लिए चैतन्य हूं, सर्वरागादिक भावोंसे शून्य हूं। यदि अपने आपके स्वरूप का विशद दर्शन करना है तो अपने आपके स्वरूकी दृष्टि करो। अपने और भगवान्के स्वरूपमें दृष्टि करो तो अन्तर इतना ही है कि भगवान्का स्वरूप विकसित हो गया है और मेरा जो स्वभाव है वह विकल्पोंके कारण तिरोहित हो गया है। यदि मैं अपने स्वरूपकी भावना करूँ तो ये रागादिक दूर होंगे और वह समस्त स्वभाव विकसित हो जायेंगे। तो मेरे स्वरूपमें गुप्त स्वरूप में उपस्थित स्वरूपके विकासस्वरूपकी तुलना करें तो हमें अपने आपके स्वरूपका भान हो सकता है। सो ऐसे अनन्त चैतन्यस्वभावकी दृष्टिके प्रसादसे मैं अपने आपके महान् दर्शन करूँ।

इस ज्ञानानन्दमात्रके अनुभवमें जो उपस्थित होता है वह अनुभव उन अनन्तभवोंके कर्मोंको काटनेमें समर्थ है और बाह्य क्रियाएँ शारीरकी, मनकी, वचनकी क्रियाएं—ये भेद कषायोंके उदयमें उत्पन्न हुआ करते हैं। जो ज्ञानप्रकाश है उस ज्ञानप्रकाशके कषायका उदय आवे तो उस कषायमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उस प्रवृत्तिमें भी ज्ञान कषाय सावधान रहता है और कषाय अपने आपकी ओर झुका रह सकता है—यह परखना चाहिए। किन्तु बाहरमें मैं अकेला कैसे उठाऊं ? इस तरहके ध्यानसे हम रत्नत्रयमें नहीं पहुंच सकते किन्तु ज्ञानप्रकाशी अपनेको इतना सावधान जानते हैं कि यदि उनके कषायों का उदय आता है तो कषायोंके उदयसे मन, वचन, कायकी चेष्टाएं बनती हैं। ये चेष्टाएँ कैसे बनती हैं ? यह देखना चाहिए। यह देखनेसे ज्ञानके प्रति आदर रहेगा। यदि ऐसा न देख सके तो आत्माके आनन्दमें विकासगुणकी दृष्टि नहीं कहला सकती है। तो सब कुछ अपने आपमें देखो। अपने आप से बाहर अपना कुछ न निरखें, अपनेसे बाहर अपना कुछ है ही नहीं इस जगत्‌में। भगवान् जिनेन्द्रदेवने आत्मज्ञान किया है सो वे इस अवस्थामें पहुंचे हैं। अरहंत देव भी इसही पद्धतिसे इसही श्रद्धा और रमणसे पूज्य बने हैं। अपनी आत्माको सिद्ध की तरह विचारो और जिस उपायसे वे पूज्य बने हैं उसही उपायके अनुकरणसे विषय कषायोंमें अपनी रुचि न जगे। अपने ज्ञानानन्दस्वरूपके अनुभवमें अपनी रुचि जगे। यदि ऐसा कर सकते हैं तो समझना चाहिए कि अपना हित है।

सर्वसारमिदं कार्यं निवृत्तिः सर्वकार्यतः।
ततो विस्मृत्य सर्वाणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२०॥

जितने भी आत्माके कर्तव्य हैं उन सबमें सर्वभूत कार्य यह है कि सर्वकार्योंसे निवृत्ति हो जाय। यह आत्मा शरीरसे निवृत्त स्वयं है, पर प्रवृत्ति इसकी परमें लगी कैसे ? इस कारण निवृत्ति भी एक काम बन गया है। निवृत्त तो सभी पदार्थ स्वयं हैं, इसलिए मैं सबको भूलकर अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। किसी भी क्रियाको करनेमें परका लक्ष्य कुछ न कुछ रागरहित ही है। जो राग है, विकल्प है, अस्थिरता है वही दुःखका हेतु है। यह परपदार्थोंका आश्रय इस जीवके कबसे लगा है ? यह परम्परा से अनादिसे लगा है। जबसे कर्मोंका सम्बन्ध है, जबसे कर्मोदय चल रहा है तबसे परका आश्रय लगा हुआ है। रागभाव जितना भी उत्पन्न होता है वह किसी न किसी परपदार्थका विकल्प करते हुए उत्पन्न होता है। जैसे कहा जाय कि भाई किसी परपदार्थ का विकल्प न करो, विचार न करो और राग न करो तो कोई कर सकता है क्या ? राग तो करें, स्नेह तो करें, पर किसी परपदार्थमें न करें तो राग हो सकता क्या ? नहीं हो सकता है। अपनी आत्माका ही आश्रय रखनेमें रागका विनाश होता है। और जो भी क्लेश है हम आपको, किसी न किसी रागका क्लेश है। किसीको शरीर से राग है, सो कहीं मुझे दूसरोंसे ज्यादा काम न करना पड़े, कहीं घरका

http://sahjanandvarnishastra.org/

काम ज्यादा न करना पड़े, घरमें और भी तो आदमी हैं, मैं ही ज्यादा क्यों करूँ– ऐसे विकल्प करके दुःखी होना पड़ता है। मनका राग है, जैसी अपने मनमें बात आए, चाहे कुबुद्धिकी है, चाहे सुबुद्धि की बात मनमें आयी हो, पर यह मोही प्राणी विवेक ही समझता है। अपने मनकी बातको अविवेक समझ सके यह ज्ञानी पुरुषका काम है। है अविवेक से जो मनमें आये उसको ही समझते हैं कि मैं ठीक कर रहा हूं, ठीक सोच रहा हूं। मैं बुद्धिमानीका काम कर रहा हूं। मनमें राग है, वचनमें राग है, जो मुझसे बात निकल गयी उसकी तो पूर्ति होनी ही पड़ेगी, वचन उलट नहीं सकते। तो किसी न किसी परपदार्थमें लगे रहते हैं तो इस रागके कारण उनके आकुलताएं होती हैं। सबसे श्रेष्ठ कर्तव्य हितरूप यह कार्य है कि सब कार्योंसे निवृत्ति हो। दुनियां मुझे न जान सके। दुनियांके जाननेसे मेरी सृष्टिका क्रम नहीं बदलता। दुनियां मुझे माने न माने, किसीके माननेसे कहीं मेरा उत्थान नहीं हो जायगा। मेरा ही आचरण विश्वास यदि शुद्ध है तो मेरा उत्थान है। यह निवृत्ति तो ज्ञायकस्वभावकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परपदार्थोंसे हट गया, किन्तु ज्ञायकस्वभावी आत्मा ज्ञायकरूप रह गया। सो मैं बाह्यकी सर्वक्रियावोंकी प्रवृत्तिको भूल जाऊँ और हिम्मत करके मनमें किसीको न सोचूं, वचनोंसे किसीको दुःखी न करूं, व्यवहारको न करूं, शरीरसे कोई चेष्टा न करूं, सबको भूलकर अपने आपमें स्थित हो जाऊं तो ऐसी स्थितिमें जो अनुभव होगा बस उस अनुभवमें ही प्रभुका दर्शन है। यह तो एक मोटीसी बात है कि परिवार का मोह भी करते रहें और परमात्माके दर्शन भी पाते रहें, ये दो बातें नहीं हो सकतीं। परिवारमें रहते हुए भी अपना ज्ञान जगावो, क्योंकि संसारकी यात्रा बहुत लम्बी चौड़ी है। केवल इस भवमें मिले हुए समागम ही सब कुछ हैं। इसलिए मिले हुए समागममें संतोष न करो। सबका विस्मरण करके मैं अपने आपमें ही विश्राम पाऊं और सुखी होऊं।

पुण्यार्थ भोग सम्बन्धाः सन्त्यनर्थपरम्पराः।
एषु कृत्यां हितं किं मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ७–२१॥

पुण्य, अर्थ और भोगके सम्बन्धमें अनर्थकी परम्परा है। पुरुषार्थ चार होते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तो इसमें धर्मका तो मतलब है पुण्य से क्योंकि आत्माका श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप धर्म मोक्षमें चला गया। मेरा सम्बन्ध मोक्ष पुरुषार्थ से है तो यह धर्मका अर्थ है। पुण्य और अर्थका मतलब है धन कमानेसे और कामका मतलब है पदार्थोंके भोगसे, उपयोगसे सो ये तीनों पुरुषार्थ पुण्य अर्थ और भोग अनर्थकी परम्परायें हैं। याने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भोग तो अनर्थकी परम्परा है ही। कहते हैं ना कि बड़े-बड़े प्रायः नरकमें जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं कि स्वार्थमें जाते हैं, मोक्षमें जाते हैं, पर राजकीय भोगोंमें रहकर उपभोग इतना फंस जाता है, आरम्भ और परिग्रहमें लिप्त हो जाते हैं कि उनकी प्रायः दुर्गति होती है। यह दुर्गति क्यों हुई कि उनको भोगोंके बड़े साधन मिले, भोगोंके साधन क्यों मिले कि उनका पुण्यका उदय था। पुण्यका उदय उनको अनर्थमें ले जाने का कारण बन गया और धनका उपार्जन तो अनर्थकी परम्परा है ही। मित्रोंकी मित्रता न कायम रह सके, धनसे कितना अनर्थ हो जाता है तो धनका पुरुषार्थ भी अनर्थकी परम्परामें ले जाने वाला है। इस तरह ये तीनों पुरुषार्थ अनर्थकी परम्पराके कारण हैं। इनसे मेरा क्या हित है ? इनको मैं क्यों करूँ ? इन से दूर रहकर अपने आपमें सुखी होऊं। ये त्रिवर्ग कहलाते हैं। गृहस्थीमें त्रिवर्ग होता है, और साधुजन जो मोक्षका पुरुषार्थ करते हैं और उसके फल में उन्हें मोक्ष मिलता है। उस मोक्षका नाम है अपवर्ग। अब वे वर्ग खत्म हो गये हैं पुण्य अर्थ और भोग आदि। ये तीनों अब सिद्ध भगवानमें नहीं रहे, ऐसी प्रभुकी सिद्ध अवस्थाको अपवर्ग कहते हैं। सो इससे उठकर मैं उपवर्गके काममें लगूँ। यदि गृहस्थीमें हो और अपना हित चाहते हो तो गृहस्थीके प्रपंचोंसे अपनेको पृथक् समझो। यदि इस प्रकारसे अपनेको पृथक् समझा तो संसारके मायाजालमें रहकर भी मोक्ष पुरुषार्थमें हैं। जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि होती है। सो बाहरमें दृष्टि न हो। सांप दूरसे कितना प्यारा लगता है ? चिकना सुन्दर लगता है। भैया सांप बहुत सुन्दर मालूम होता है। सांपकी सुन्दरताकी वजहसे सांपोंको दीवालमें लिखा जाता है। सांप कितना सुन्दर होता है, मगर भीतरसे देखो तो विष भरा है। और जो भसा इत्यादि हैं वे इतने सुन्दर पशु नहीं हैं। सुन्दरता तो फिर मुकाबले तन मान ली जाती है, पर इनका उपयोग देखो कितना मधुर रस देने वाला होता है। जैसी दृष्टि है भीतरमें, वैसी ही जीवोंकी सृष्टि होती है। सो घरमें निवास करते हैं करते रहो, फिर भी अन्तरमें यह समझते रहो कि जितना यह संयोग है यह सब मेरेसे भिन्न है और इस संयोगसे मेरेको कोई लाभ नहीं है। यदि ऐसी सद्बुद्धि रहेगी तो गृहस्थावस्था में भी रहकर आप मोक्ष पुरुषार्थके निकट हैं। सो इन त्रिवर्गोंमें अपना हित न मानकर मैं आत्माके स्वभावपथमें विहार करूं अपने आप सुखी होऊं।

जीवनं मरणं किं को लोकः का चास्ति लीनता।
मायारूपाणि सर्वाणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२२॥

अहो जीवन क्या है ? मरण क्या है ? लोक क्या है ? लीनता क्या

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है ? ये सब मायारूप हैं। जीव कोई यथार्थपदार्थ नहीं है। इस जीवका एक भवसे छूटकर दूसरे भवमें आना इसका नाम जीवन है। मरण कोई यथार्थपदार्थ नहीं है किन्तु इस जीवका इस भवसे संयोग छूट जाना इसका नाम मरण है। इस लोकमें जो कुछ दीख रहे हैं, ये सब स्कंध ही तो दीख रहे हैं। ये स्कंध यथार्थ पदार्थ नहीं हैं। अनन्ते परमाणु मिलकर ये स्कंध बने हैं। इसलिए यह स्कंध समुदाय भी नानारूप हैं और यह लीनता चाहे विषयोंकी लीनता हो, चाहे स्वरूपमें लीनता हो, मगर लीनता पर्याय ही तो है। यह लीनता कोई यथार्थपदार्थ नहीं है, ये सबके सब मायारूप हैं। इन रूपोंसे मैं क्या प्रेम करूँ ? जो चीज मिट जाने वाली है, उसमें राग करने से क्या लाभ है ? जो चीज न मिटे और अपनी हो, उसकी प्रीतिसे तो फायदा है, पर जो चीज अपनी भी नहीं है, और मिट जाने वाली है उस चीजकी प्रीतिसे फायदा नहीं है। देख लो यह सारा धन वैभव, ये सब समागम मिट जाने वाले हैं और पराई चीज भी हैं। तुम्हारा तो अपने बच्चों पर भी अधिकार नहीं है कि जैसा आप चाहें तैसे ही बच्चे चलें। लोग एक इस आशासे बच्चोंको पालते हैं कि बड़े होंगे तो मेरे काम आयेंगे, मेरी बुढ़ापेमें सेवा करेंगे। मगर अक्सर देख रहे हैं कि बड़े हो जाने पर माता पिताकी सेवा करने वाले कितने हैं ? हिसाब लगा लो, आप लोग तो कुछ आशय वाले लोगोंके बीचमें रहते हैं। इसलिए ऐसा अन्दाज लगा लेते हैं, ऐसा सोचते हैं कि सभी लोग माता पिताकी सेवा करते हैं। क्या यह बतला सकते हो कि इस दुनियामें मांस खाने वाले कितने लोग होंगे ? अपने ही कुछ लोग ऐसे बसते हैं, इसलिए ऐसा लगता होगा कि कोई विरला ही मांस खाता होगा ? अगर दृष्टि पसारकर देखो तो आज मांस खाने वाले ९५ प्रतिशत हैं। ५ प्रतिशत ऐसे हैं जो मांस खाने वाले नहीं हैं। इसी प्रकार दुनियामें दृष्टि हो तो लगभग ९० प्रतिशत ऐसे मिलेंगे जो बड़े होकर अपने माता पिताकी सेवा करना तो दूर रहा, उनके दुःखके कारण बन जाते हैं। सो सब मायारूप हैं। किसी परपदार्थमें विश्वास न रखो। विश्वास रखो तो अपने सदाचार पर। यदि आपका सदाचार है तो आपके सब सहायक बन सकते हैं और यदि सदाचार नहीं है तो आपका कोई दूसरा सहायक नहीं हो सकता। यहीं देख लो कोई मनुष्य पाप करे, किसीकी बहिन बेटी को सताए तो जूते घालना शुरू हो जाता है यह यहीं देख लो। यही पाप अगले भवमें दुःखका हेतु हो जाता है। इसलिए दूसरे जीवोंसे आशा न रखो। तुम्हारे सद्व्यवहार है तो दूसरे लोग भी तुम्हारी ओर झुकेंगे और तुम्हारा ही असद्व्यवहार है तो जगत्में तुम्हारा कोई सेवक नहीं है। कोई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तुम्हारी खबर लेने वाला नहीं हो सकता। हम सब पापरूपोंसे अपना उपयोग हटाएँ और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवें।

सर्वचिंता कथा चेष्टाभिरलं तासु नो हितम्।
यतो निष्क्रियभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–२३॥

किसी भी पदार्थका चिंतन करना, किसी भी पदार्थके लिऐ चेष्टा करना, इनसे कोई लाभ नहीं है। इससे हित कुछ भी नहीं है क्योंकि मैं तो निष्क्रिय भावस्वरूप हूं। मैं तो एक ज्ञानमय पदार्थ हूं। अपने ज्ञानमें अपने ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञानमय कार्य करता रहता हूं। कभी विकार हो जाय तो भी मुझमें मेरा काम स्वयं हुआ। कभी गुस्सा आ गया तो दूसरोंके द्वार नहीं आया, मेरा काम मुझमें ही हुआ। कोई कितनी ही गालियां दे, कोई कितनी ही खराब चेष्टाएँ करे तो उन चेष्टाओंसे मेरा बिगाड़ नहीं होता। मैंने ही अज्ञानमें, मोहमें, भ्रममें कुछकी कुछ कल्पनाएँ कर लीं और अपने आपको दुःखी पा लिया। कोई दूसरे जीव मुझे दुःख नहीं देते हैं। इसी तरह सब जीवोंको निरखो कि यह भी प्रभुकी भक्तिकी एक पद्धति है। क्योंकि सभी जीव प्रभु हैं। इस प्रभुके प्रति ऐसी तो दृष्टि बनाए रहो कि ये प्रभु कोई भी मेरे को दुःख देने वाले नहीं हैं। ये स्वयं अपने साथ उपाधि लिए हुए हैं। सो उन उन विचित्र उपाधियोंका निमित्त पाकर ये स्वयं विकृत हो जाते हैं। ये मेरा काम कुछ नहीं करते हैं। ये विकारी स्वयं अपने आपमें हो रहे हैं। इनका कार्य इनके ही प्रदेशोंमें समाप्त है। मेरा कार्य मेरे ही प्रदेशोंमें समाप्त है। मैं अपने प्रदेशोंसे बाहर कुछ नहीं करता और दूसरे प्रभुजन भी अपने प्रदेशोंसे बाहर किसी दूसरेका कुछ नहीं करते। ऐसा अन्य जीवोंके प्रति आपका विचार रहेगा तो आप प्रभुकी भक्ति ही कर रहे हैं। प्रभुकी उपासन।सिद्धप्रभुकी उपासना करते हो और इस जगत्में जो संसारी जीव भ्रमण कर रहे हैं उनके विपरीत धारणा बनी तो आपने प्रभु की भक्ति नहीं की। जीव-जीवको हम प्रभुसमान निरखें। भीतरमें प्रत्येक जीवके प्रति उसके सत्यस्वरूपके दर्शनकी भक्ति करें। कोई जीव मेरा शत्रु नहीं है। बार-बार ऐसी भावना अन्य जीवोंके प्रति बनाओ। जिसको भ्रम हो वह भ्रम मिटाकर सुखी हो। जिसके कुबुद्धि आ गयी हो वह कुबुद्धि मिटाकर सुखी हो, जिसके कोई उपद्रव उपसर्ग आ गया हो तो अपने शुद्ध निज आत्मस्वरूपका ध्यान करके सुखी होओ। जगतका प्रत्येक जीव सुखी हो। सुखी होनेकी भावना करो। यही धर्मका पालन है। कोई अन्य जीव मुझे दुःख दे नहीं सकते हैं। मेरा पूर्वकृत पापोंका उदय आ जाय तो उदयमें मुझको पूर्वकर्मोंका फल भोगना है ना? तो उस फलके भोगनेके समय हम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किसी परका आश्रय करके दुःखी हुआ करते हैं और उस कालमें हम जिस किसी प्राणीको अपने दुःखका दाता समझने लगते हैं, परमार्थसे कोई भी जीव मेरेको दुःखका देने वाला नहीं है। ऐसा सर्वजीवोंके प्रति अपना विश्वास बनाओ तो यह भी प्रभुकी भक्ति है। सो सर्वचिंतावोंको छोड़ो क्योंकि उनमें तुम्हारा हित नहीं है। अपने निष्क्रिय ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मामें विहार करो और अपने आप स्वयं सुखी होवो।

चैतन्ये मयि नो देहो न प्राणा इन्द्रियाणि वा।
रागादिस्तान् कथं यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७--२४॥

अहो मैं तो एक शुद्धचैतन्यस्वरूप हूं। शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अर्थ है कि परसे न्यारा और अपने स्वरूपमात्र। शुद्धका अर्थ पवित्र पर्यायसे नहीं है। किन्तु केवल खालिस रह जाना परसे जुदा और अपने स्वरूपमात्र रह जाना ऐसा मैं स्वयं शुद्ध हूं, जगत्के परपदार्थ अणु-अणु शुद्ध हैं। अशुद्ध तो कोई हो ही नहीं सकता। भले ही परउपाधिका निमित्त पाकर वे विकाररूप परिणम जायें और पर्यायगत अशुद्धता धारण करलें किन्तु द्रव्य शुद्धिका वह त्याग कभी नहीं कर सकता। कौनसा पदार्थ ऐसा है कि किसी दूसरे पदार्थके अस्तित्वमें रम जाय? अगर ऐसा कभी कुछ होता तो आज यह दुनियां देखनेको न मिलती। हम तुम रूप बन गये, तुम हम रूप बन गये तो हम मिटे तुम भी मिटे। तुम, तुम ही रहें; हम, हम ही रहे तो हम, हमही रहे, तुम, तुमही रहे। ऐसा शुद्ध मुझ चैतन्यस्वरूपमें है। ऐसा इस शुद्धआत्मा में शरीर है ही नहीं। देखो शरीर और आत्मा एकक्षेत्रावगाहरूप ही रहे हैं, जैसा शरीरका अणु है वैसा आत्माका प्रदेश है। फिर भी शरीरसे न्यारा यह आत्मा है लोग कहते हैं कि दालके छिलकोंकी तरह आत्मा शरीरसे न्यारा है। मगर दालका छिलका तो दालके प्रदेशोंसे अब भी दूर है। भीतर को जो सफेद दाल है उसमें छिलका घुसा हुआ नहीं है। दालके दानेके चारों तरफ छिलका लगा है। ऐसी इस आत्माके बाहर शरीरका छिलका नहीं है किन्तु आत्माके रग-रगमें शरीरका परमाणु-परमाणु धंसा हुआ है और शरीरके परमाणु-परमाणुमें आत्माका प्रदेश धंसा हुआ है तिसपर भी आत्मा शरीरसे अत्यन्त न्यारा है। दोनोंका अस्तित्व एक हो ही नहीं सकता। ऐसी इस मुझ चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मामें शरीर नहीं है, प्राण भी नहीं है। प्राण क्या है? ये इन्द्रियबल मनोबल, वचनबल, कायबल, स्वासोच्छ्वासबल और आयुबल इस मुझ ज्ञानभाव आत्मामें हैं नाक, आंख कान। जाननहार जो यह जीवतत्त्व है उसमें इन्द्रिय नहीं होती। इस आत्मामें तो ज्ञानका बल है। दो मनका बोरा उठा लिया यह आत्माका बल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं किन्तु आत्माके सम्बन्धसे क्षयोपसमके अनुसार शरीरके रूपमें विकार रूप बल है। यदि शरीरके बलको आत्माका ही बल समझने लगें तो तुममें से ज्यादा आत्मबल भैंसेका हुआ। भैंसे तो १० मनका बोरा उठा सकता है। तो शरीरका बल आत्माके सम्बन्धसे एक विकृत बल प्रकट होता है शरीर से। वह विकाररूप शरीरबल आत्माका बल नहीं कहला सकता। इस प्रकार मुझ चैतन्यस्वरूप आत्मामें न तो शरीर है, न प्राण है और न इन्द्रिय हैं। और रागादिक भाव भी आत्मामें नहीं हैं क्योंकि ये रागादिक भी आत्माका स्वरूप नहीं हैं किन्तु जिसे आत्माके सम्बन्धसे शरीरमें बल रूप विकार प्रकट होता है उसी प्रकार इस आत्मामें उपाधि सम्बन्धसे गुण विकार प्रकट होता है। ये सब मेरे स्वरूप नहीं हैं। तो मैं इनको कैसे प्राप्त करूँ ? मैं तो अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।

क्षेमकरोऽक्षभोगो न तत्राज्ञः सन् कथं रमै।
क्षेमकरः स्वयं स्व मै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२५॥

गृहस्थीके माया जालमें रहते हुए यह श्रद्धान् रहे कि इन्द्रियोंका विषय भोग मेरे लिए कल्याण का करने वाला नहीं है। मैं तो ज्ञानी हूं। मैं विषय-भोगोंमें क्यों रमण करूँ ? मैं तो अपने लिए अपनेमें स्वयं हितकर होऊँ। आत्माका हित करने वाला यह आत्मस्वरूप है। यदि यह अपने सहजस्वरूप को निरखता है तो कर्मोंका क्षय भी हो रहा है और अनेक संकट भी टल रहे हैं। शांति भी प्रतिक्षण बढ़ती चली जाती है किन्तु इन्द्रियोंके भोग-साधनोंमें अगर हितकी श्रद्धा लगाई तो केवल आकुलताओं को ही प्राप्त करोगे। जिन भोगोंमें फस जावो वहां ही आपको क्लेशोंकी ठोकरें मिलेंगी। अपने आपको संभालो, किसी पर-जीवोंपर भोगोंकी दृष्टिका ध्यान मत दो। ये सब पंचेन्द्रियके भोग मेरी दुर्गतिके कारण हैं। कुछ सोचो, कुछ अपने मनको संयत करो, मनको स्वच्छन्द बनानेमें कोई लाभ न पावोगे। ये इन्द्रियोंके भोग और इनके भोगनेका भाव क्षणिक है, औपाधिक है। अव्वल तो देखो इन्द्रियोंसे हानि ही है। फिर ये भोग क्षणिक हैं और किसी प्रकार की आसक्ति बनें यह भी क्षणिक है, औपाधिक है, जो नष्ट हो जायेंगे और जो पराई चीज है उसमें रमनेका क्यों भाव करते हैं। उसमें हित नहीं है। वह तो ज्ञानमय परिणाम है। मैं ज्ञानस्वभाव हूं। सो मैं स्वच्छ विज्ञानघन स्वभाव हूं। फिर मैं अज्ञानी क्यों बन रहा हूं ? क्यों विषयोंमें ही रम रहा हूं ? अरे यदि परलक्ष्यरहित मेरा परिणाम हो जाय तो मैं सुखका घर हूं। मैं तो क्षेमका घर हूं, स्वयं हितरूप हूं। सो सर्वविकल्पोंको त्यागकर मैं अपने आपमें ही अपने कल्याणकी श्रद्धा करूँ। मैं ही मेरे लिए हितकर हूं। मैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही मेरा गुरु हूं, मैं ही मेरा देव हूं, यह मैं ही अपना रक्षक हूं, मैं ही ज्ञान-स्वभाव भगवान् हूं। उस भगवान्‌की श्रद्धा करो और अपने आपमें मैं भगवान् की छटाको निरख। जैसा भगवान् स्वरूप है तैसा ही उपयोग बनाओ और ऐसा अपने ध्यानमें लीन हो जावो कि अपनी खबर भूल जावो। इसीको कहते हैं परमात्मामें लीन होना। ऐसा लीन होकर मैं अपनेमें अपने आप सुखी होऊं।

दृश्योऽरम्यो न विश्वास्यो ज्ञानमात्रमहं यतः।
विश्वसानि रमै क्वातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२६॥

जितने भी पुद्गल पदार्थ हैं वे सब अरम्य हैं अर्थात् रमनेके योग्य नहीं हैं। जगत्‌का कोई सा भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि जिसमें रमण करके मनुष्य शांति प्राप्त कर सके और विश्वास भी नहीं है किसी पदार्थका कि ये दो दिन मेरे साथ होगा। रह आये बीसों वर्षोंसे मगर विश्वासपूर्वक कोई पदार्थ मेरे साथ रह सके ऐसा नहीं है। यह दिखने वाली सारी दुनियां एक तो अरम्य है दूसरे विश्वासके योग्य नहीं है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। सो अपने ज्ञानका अनुभव करूँ और बाह्यपदार्थोंकी प्रीतिको छोड़ूँ। कहीं बाहर में विश्वास करके कहां रमण करूँ। अपने जीवनमें भी आप लोगों ने सब कुछ अनुभव किया होगा। कोई मनुष्य कोई स्त्री कोई पुरुष ऐसा नहीं मिलेगा जो आपका साथ निभा सकता हो। कषाय सबके जुदा जुदा हैं। कहां मैं कषाय करूं? मैं ही अपनी संभाल करूं, कोई मेरी संभाल नहीं कर सकता। किसी भी पदार्थसे हमें अपनी शांति प्राप्त नहीं हो सकती। कौनसे पदार्थ विश्वास योग्य हैं, रमनेके योग्य हैं। पदार्थोंमें कोई रमाई जाने वाली कला नहीं है किन्तु ये जीव खुद अपने भावोंसे रहते हैं। परपदार्थोंकी ओर झुका करते हैं, इष्ट अनिष्ट मानते रहते हैं। सो जब यह राग तक भी मेरा हितकारी तत्त्व नहीं है तो जिस पदार्थमें हम राग करते हैं तो उस पदार्थसे मेरा कैसे सम्बन्ध हो सकता है? अगर किसी पदार्थमें आपने राग किया तो न राग आपका भला करता है और न वे परपदार्थ आपका भला कर सकते हैं। संसारमें यह जीव इस रागद्वेष मोहके कारण ही तो रुलता चला आया है। जब राग भी मेरा हितकारी नहीं है तो अन्य पदार्थोंसे हितकी क्या आशा करूं? जो मेरा है वही मेरा रम्य है। वही मेरा विश्वास्य है। ऐसा कौनसा पदार्थ है जो मेरे साथ त्रिकाल रह सकता हो? ऐसा पदार्थ मेरा मैं ही हूं, जो मैं अपने साथ सदा रह सकता हूं। मुझे अपने आपका विश्वास है कि यह मैं मेरेसे अलग कभी नहीं हो सकता। और निजतत्त्वको छोड़कर बाकी किसी पदार्थमें हम विश्वास नहीं कर सकते कि ये कोई मेरे साथ रह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सकें। मैं एक सत् हूं जो सदा अपने साथ रहूंगा। मैं त्रैकालिक हूं, अनादि से हूं और अनन्तकाल तक रहूंगा। सत्का समूल विध्वंस नहीं होता। मैं तो मिट ही नहीं सकता। मैं मेरे साथ सदैव रहूंगा। सो श्रद्धाके योग्य और रमणके योग्य मेरा आत्मा है। ये बाहरी पदार्थ जिनमें स्वयं सुख गुण नहीं है-- घड़ी है, मकान है, चांदी है, सोना है इनमें चेतना तक नहीं है। सुख गुण भी नहीं है। इनमें ही यह मोही जीव चित्त जमाये हुए है। सो इस मोहको और सर्वविकल्पोंको छोड़कर अपने अन्तरमें अपने को देखो तो सही। यह ज्ञान और आनन्दका निधान जिसकी जगत्में कहीं तुलना नहीं हो सकती– ऐसा मैं स्वयं प्रभु स्वरूप हूं। इस अपने आपमें रम कर के कर्मोंका क्षय करना चाहिए, संकटोंको दूर करना चाहिए और सहज सुखी हो लेना चाहिए।

त्यागादाने परे भिन्ने किमौपाधिक एव हि।
हेयोऽनाश्रित्य तं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–२७॥

देखो जितने भी परपदार्थ हैं वे सब मेरे सत्से अत्यन्त जुदा हैं। शरीरका स्वरूप मेरे स्वरूपसे भिन्न-भिन्न है। शरीर जड़ है और मैं चेतन हूं। धन वैभव तो प्रकट जुदा हैं। मेरेसे ये पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। इनको मैं ग्रहण नहीं कर सकता हूं, यह आत्मा भी ग्रहण नहीं कर सकता। आत्मा अमूर्तिक है, आनन्दमय है। ज्ञान और आनन्दका जो स्वरूप है वह एतावन्मात्र आत्मा मैं हूं। यह पैसेको छू भी नहीं सकता। ग्रहण तो करे ही क्या? जब मैं परपदार्थोंका ग्रहण नहीं कर सकता तो फिर त्यागूँगा ही क्या? आत्मा सबसे निराला निर्लेप अपने ज्ञान और आनन्दभावमें रहने वाला है। यह परपदार्थको न तो ग्रहण करता है और न उनका त्याग करता है। वे सर्वथा भिन्न हैं। जब उनको ग्रहण नहीं करता तो उनको त्यागना ही क्या है? तो परपदार्थका न तो ग्रहण है और न त्याग है। पर ग्रहण और त्याग किसका करता है यह जीव? यह जीव अपने ही औपाधिक भावोंको एक क्षणके लिए ग्रहण और एक क्षणके लिए त्याग कर देता है। जैसे दर्पण में सामनेकी चीजकी छाया आ जाती है तो क्या दर्पणने इस खम्भको ग्रहण किया है? दर्पणमें खम्भकी छाया आ गयी तो बताओ दर्पणने क्या खम्भ को पकड़ा है? नहीं। दर्पण अपनी जगह है, खम्भ अपनी जगह है। दर्पणने खम्भको नहीं पकड़ा तो दर्पण दर्पणको छोड़ेगा ही क्या? पर खम्भका निमित्त पाकर जो दर्पणमें छायारूपका परिणमन हुआ है, जो दर्पणमें छाया बनी है उस छायाको थोड़े समयके लिए ग्रहण किया। जितने समय यह उपाधि साथमें है, और उसके बाद त्याग कर दिया तो दर्पण अपने आप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में उठे हुए प्रतिबिम्बका त्याग करता है, फिर नया प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, फिर त्याग करता है। इसी तरह यह संसारी जीव भी इन बाह्यपदार्थोंको घर दूकान परिवार धन वैभव किसी भी परपदार्थको यह जीव ग्रहण नहीं करता। वे परपदार्थ अपनी जगह हैं और जीव अपनी जगह हैं। उनका ग्रहण नहीं करता, किन्तु पदार्थोंका निमित्त पाकर, आश्रय करके यह जीव अपनेमें रागभाव बनाता है। सो यह जीव रागविकारको ग्रहण करता है और दूसरे समयमें राग विकारको छोड़ देता है। तो औपाधिक जो राग परिणाम है वही तो आपत्तियोंका कारण है। ये बाहरी पदार्थ आपत्तियोंके कारण नहीं हैं। ये जो चीजें हैं, अपनी जगह पर हैं, मिट जायेंगी या रह जायेंगी, इनका मेरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। तब अपनेमें उठे हुए औपाधिक भावोंका अनाश्रय करके तो मैं नहीं हूं। इस वैभव से निराला ज्ञायकस्वभाव मात्र हूं, ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। इस प्रकार इस वैभवसे भी निराला अपने आपको समझना यह अपने आपमें उठे हुए औपाधिक भावोंका अनाश्रय कहलाता है। सो उन औपादिक भावोंका अनाश्रय करके स्वयं अपने आपके शुद्ध शिव सुन्दर ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करूँ और स्वयं ही सहज अपने आपके ज्ञान बलसे अपने आपके सत्य आनन्दको प्राप्त करूँ। इन बाह्यपदार्थोंका और इन औपाधिक भावोंका त्याग किए बिना इस आत्मा को शांति नहीं प्राप्त हो सकती है।

दृश्यं जडमदृश्योऽन्यश्चेतनश्च तथा पृथक्।
कस्मिन् रुष्याणि तुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–२८॥

एक बहुत मोटी सी बात है। अपने अपने ज्ञानसे सोचो कि ये दिखने वाले जो कुछ पदार्थ हैं ये जड़ हैं या चेतन हैं? इनमें चेतन तत्त्व दिखता है क्या? जो कुछ दिख रहा है वह सब जड़ है। तो दिखने वाले तो जड़ हैं और जो चैतन्य है वह दिखता नहीं है। चैतन्य बिल्कुल भिन्न चीज है। जड़ बिल्कुल भिन्न चीज है। अच्छा जड़में तुम खुश हो जाओगे। कुछ जड़ से मिलेगा क्या? वे तो जड़ हैं, थूलमथूल पड़े हुए हैं। वे तुममें कुछ पैदा करते। जड़ पर तुम प्रसन्न हो जाओ तो जड़ तुम्हें कुछ जबाब देंगे क्या? या अपना परिणाम कुछ दिखा सकते हैं? कुछ भी नहीं। और जड़ पर द्वेष कर लो, जड़ तुम्हारा बिगाड़ करने के लिए उद्यम कर सकते हैं क्या? यह खम्भा खड़ा है। बड़ा सुन्दर दिखता है, इस पर प्रसन्न हो जायें तो यह खम्भ हमको संतोष दिला सकता है क्या? यह तुम्हें कोई संतोष दिला देगा या कोई चेष्टा करेगा क्या? इस पर नाराज हो जाओ तो तुम्हारा ये जड़ क्या बिगाड़ करेंगे? ये बाहरी दृश्यमान् पदार्थ सब जड़ हैं। इनमें रोष करनेसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्या फायदा और संतोष करनेसे क्या फायदा ? जैसे किसी बच्चेके डेरी लग गयी सिरमें तो मां उस डेरीमें तीन चार तमाचा मारती है और कहती है कि तूने हमारे भैयाको चोट पहुंचाया। तो क्या तमाचा मारनेसे, उस डेरी में रोष कर देनेसे उस बच्चेको शांति मिली ? उससे तो कुछ होता नहीं पर बालक मनमें यह सोच लेता है कि इसने हमको चोट पहुंचाया तो इसे सजा मिल गयी, वह खुश हो जाता है। किसीभी पदार्थसे सुख या दुःख नहीं होता है। अपने आपमें ही उस प्रकार की कल्पनाएं बनानेसे सुख या दुःख हो गया। तो ये दृष्यमान पदार्थ जड़ हैं इनमें मैं क्या रोष करूं ? और इनमें क्या तोष करूं। चैतन्यतत्त्व तो दिखता नहीं, सो कहां रोष तोष करूं ? किसका रोष करूँ ? जीव तो दिखते नहीं। फिर किसका तोष करूँ ? ये जानने देखनेमें जो आ रहे हैं ये सब जड़ हैं। पदार्थ तो दिखनेमें नहीं आ रहे हैं। नाक, कान, आंख आदि चैतन्य हैं ? समझदार हैं क्या ? समझने वाला पदार्थ तो इस शरीरके भीतर इस तरह छिपा हुआ है कि कितने भी उपाय कर लो इन्द्रिय और मनके द्वारा पर यह चेतन ग्रहणमें नहीं आता। बाह्यविकल्प छूटें तो यह चेतन अपने आप ग्रहणमें आ जाता है। सो चेतने दिखते नहीं। फिर रोष किसका किया जाय ? सर्वपदार्थ स्वतन्त्र हैं। सबके जुदा-जुदा प्रदेश हैं, फिर किसीमें क्रोध करनेसे लाभ क्या ? मान लो जिसको कल्पनासे आप अपना पुत्र समझते हो और उस पुत्रने कोई विपरीत कार्य भी किया और आप उस पर क्रोध कर रहे हैं तो क्रोध करनेका फल किसको मिलेगा ? क्रोध तुम्हारी परिणति है तो तुम्हारी परिणतिका फल खुदको मिलेगा। वह तुम्हारा बालक पता नहीं तुम्हारे क्रोधको देखकर संभलता है या बिगड़ता है। आपकी परिणतिका प्रभाव आपपर है दूसरे पर नहीं। खुद खोटे विचार मनमें आए तो नुक्सान किसको होगा ? खुदका ही नुक्सान होगा। खुदकी खोटी चेष्टाओंसे ही खुदका बिगाड़ होता है। तो मैं किसमें संतोष करूँ ? जड़ पदार्थोंसे तो तुम्हें जबाब नहीं मिलता। इसमें रोष-तोषसे लाभ नहीं। चैतन्यपदार्थ तो दिखते नहीं। तो फिर रोष-तोष करनेसे कोई लाभ नहीं। आप प्रभुकी भक्ति करते हैं और ऐसा सोच रहे हैं कि मैं जो बोल रहा हूं उसे भगवान् सुन रहे हैं और उसको सुनकर भगवान का हृदय पिघल जायगा और हमारे संकटोंको भगवान् दूर कर रहे हैं। प्रथम तो आपकी बातोंको भगवान् सुनते नहीं हैं क्योंकि भगवान् अतीन्द्रिय हैं, सर्वज्ञ हैं, अनन्तआनन्दके निधान हैं। भगवान्की बुद्धि अलौकिक है। इस लोकमें वे अशुद्ध पदार्थोंको नहीं जानते हैं। वे शुद्ध पदार्थोंको जानते हैं। प्रथम तो आपकी बातोंको भगवान् सुनते नहीं हैं क्योंकि उनके कान नहीं

Version 1

हैं। फिर वह भगवान् वीतराग है, उसके हृदय नहीं है। वह प्रभु तो ज्ञानका पिंड है। प्रभु अपना ही परिणमन कर अपने ही परिणमनको कर लेता है जिससे अनायास ही संकट टल जाते हैं अपने आपमें शांतिका अनुभव होगा। किसी परपदार्थमें रोष करके कुछ लाभ न प्राप्त हो सकेगा। अपने ही औपधिक भावोंको करके ये रागादिक विकार होते हैं। ये विकार मेरे स्वभाव नहीं हैं। ऐसा जानकर अपने आपके गंदे विचारों पर क्रोध करूँ और अपना जो सहजस्वरूप है ज्ञानमय आनन्दमय उस सहजस्वरूपके दर्शन करूँ तो उससे मुझे लाभ है। सो मैं औपाधिक भावोंकी उपेक्षा करके और ज्ञानमात्र भावोंका ज्ञानमें अनुभव करके शेष और तोषके विकारसे भी परे अपने ज्ञायकस्वभावमें रहकर अपने आप मैं सुखी होऊँ।

वृक्षे खगा इवायान्ति क्षणं यान्ति स्वकर्मतः।
विश्वास्यं मे किमत्रातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥

जैसे वृक्ष पर शामके समय चारों दिशाओंसे पक्षी आकर बैठ जाते हैं और रात्रि व्यतीत होने पर वे पक्षी अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार अपने-अपने प्रयोजनसे जुदा-जुदा दिशाओंमें उड़ जाते हैं इसी प्रकार संसारके ये प्राणी अपने भावोंके अनुसार बांधे हुए कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जुदा-जुदा गतियोंमें जाकर जन्म ले लेते हैं। यह जो मेल हो गया है वह कोई ध्रुव नहीं है। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार आए हैं और अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही चले जायगें। अपने आपमें यह विश्वास रखो कि इन सबका वियोग जरूर होगा। यदि यह विश्वास रखोगे तो वियोग होनेके समय आप विह्वल न होंगे। जब परिवारमें किसीका वियोग होगा तो आप ऐसा सोचेंगे कि यह तो हम जानते ही थे। यदि परिवारमें कोई गुजर गया तो आप विह्वल न होंगे। आप यह सोचेंगे कि जहां संयोग होता है वहां वियोग होता ही है। मैं तो समझता ही था किसी दिन मरण हो ही जायगा। अगर यह पूर्ण निर्णय है कि जो जन्मा है वह नियमसे मरण करेगा। तब मेरे विश्वास योग्य ये कौन हैं ? जिस पदार्थ पर आपकी बड़ी प्रीति है वह आपके देखते देखते भी तो मरण कर सकता है और उस समय आप किसका सहारा लेंगे ? अपने आपके प्रभुके दर्शनका सहारा लेते हो तो बाह्यपदार्थोंके उपभोगका दुःख नहीं भोगना पड़ता। बाह्यपदार्थोंके वियोगका दुःख उसको नहीं होता जो बाह्यपदार्थोंके संयोगमें हर्ष नहीं मानता। यदि वियोगमें भी देखो कि ये चेतन हैं, जहां संयोग है वहां वियोग होता है। मैं किसी भी पदार्थमें क्यों हर्ष मानूँ ? यदि मिले हुए पदार्थोंमें हर्ष मानोगे तो वियोगके समय कोई दुःख जरूर होगा। इस लोकमें सुख तो तिलभर है और दुःख पहाड़भर है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तिल भर सुखमें मग्न होनेसे यह पहाड़भर दुःख अपने सामने आता है। यदि इस तिलभर सुखमें हर्ष न माना तो पहाड़ बराबर दुःख आपमें नहीं आ सकता। पर इतनी बड़ी तैयारीके लिए ज्ञानबल चाहिए। ज्ञानबल ऐसा हो, भेदविज्ञान ऐसा हो कि सर्वपदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। किसी भी परपदार्थसे मेरा सम्बन्ध नहीं है। इतना उत्कृष्ट भेदविज्ञान चाहिए। ऐसा भेदविज्ञान कैसे प्रकट होगा? उसका उपाय है कि परवस्तुके स्वरूपका यथार्थज्ञान करें, ऐसा अनुभव करके समझें कि परपदार्थ अपने स्वरूपमें हैं। किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थका कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी प्राणी अपने-अपने आयुकर्मके उदयसे जन्म लेते हैं और आयुकर्मके उदयसे मरण करते हैं। ऐसे जन्ममरण करते हुए, इस प्रवाहमें बहते हुए कुछ जीव एक कुटीमें उपस्थित हो गये हैं। तो कौनसी विश्वासकी बात है? कुछ समय बाद अपने-अपने कर्मानुसार सब जुदा-जुदा बिखर जायेंगे। मेरे विश्वासके योग्य यहां कौन है? मैं किसको शरण समझूँ? जिनका वियोग हो चुका है ऐसे बाबा माता पिता, जिनका वियोग हुआ है उनके प्रति भी यदि ध्यान करो कि कितना अगाधप्रेम उनके था? अथवा कितना मैं परपदार्थोंमें मोह करता था पर मैं उनकी शरण नहीं हो सकता और न वे मेरी शरण हो सकते तो मैं सर्वरागभावोंको छोड़कर जन्ममरणरहित गमनरहित, रागद्वेष रहित निजशुद्धज्ञानमात्रमें ठहरूं और अपनेमें अपने आप स्वयं सुखीहोऊं।

एकान्तेऽस्तु निवासो मे सर्वविस्मरणं भवेत्।
संयोगेन न मे लाभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३०॥

अहो इन सबसे मुझे क्या लाभ है? मैं सबमें क्यों रमूँ? उनके रमनेकी प्रवृत्तिसे मेरी किसी गुणकी बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत क्षोभका ही कारण है। मेरी एकतामें ही निवास हो, मैं एकतामें ही रहूं। एकता कैसे मिलेगी? क्या घर छोड़कर जंगलमें? नहीं। चाहे जंगलमें रहें, चाहे गांवमें रहें सबको भूलकर केवल अपने आपके सहजज्ञानस्वरूपकी ओर दृष्टि दें तो वह मेरा एकांतमें रहना कहलायेगा। जंगलमें रहना एकांत निवास नहीं कहलाता है। जंगलमें रहते हुए भी यदि अपने ज्ञानमें घर बार धन दौलत बसा रखा हो तो एकांत नहीं मिलता। वहां सबके बीच बस रहे हो और सबको बसा रहे हो तो वहां एकांत नहीं मिलता है। एकांत तो आत्मध्यानमें मिलता है। इस शरीरसे दृष्टि हटे, केवल जाननस्वरूपका ही जानन रहे तो ऐ[illegible]ने एकांतके निवासकी स्थिति कहलाती है। मेरा इस एकांतमें ही नि[illegible]। किसी अन्य पदार्थके सोच विचारमें मेरा कोई उत्कर्ष नहीं है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परका सोच विचार तो निरंतर किया करते हैं पर उस सोच विचारसे क्या वे परपदार्थ इच्छाके अनुसार बनेंगे। सोच विचारसे अब तक भी आपने अपने में उन्नति पायी ? अर्थात् मिलेगा कुछ नहीं। हम तो ज्योंके त्यों रीते हैं। जैसे तैसे सोचते हुए बीसों वर्ष बीत गये, पर आकुलताएं आज भी हैं। गत बीस वर्षोंमें बहुत उद्योग कर डाला पर आज आकुलताएं तो नहीं मिटीं। इससे ज्ञात होता है कि किसी परके सोच विचारसे आकुलताएं कटती नहीं है बल्कि बढ़ती हैं। मेरा किसी भी संयोगसे लाभ नहीं है। मैं तो अपने अनन्तगुणोंके चिंतनमें रहूं। मैं सबसे जुदा हूं किन्तु अपने ज्ञान साधन आदि अलौकिक चमत्कारोंमें तन्मय हूं। ऐसे इस चैतन्य ब्रह्मके ध्यानमें ही सर्वलाभ है। सो बाह्यपदार्थोंके सोच विचारकी प्रवृत्ति छूटे और अपने आपमें बसे हुए ज्ञानानन्द निधानकी याद रहे तो अपने इस आत्मचिंतनके द्वारा मैं संकटों को पार कर सकता हूं। संकट हम और आप पर कुछ नहीं हैं। केवल मोह रागद्वेषकी जो तरंग हैं यही संकट हैं। घर जो गिर गया, वे ईंटे भिन्न थीं, खिसक गयीं। उनके गिर जानेसे अपनेको क्या संकट आया ? पर उस घरके प्रति जो ममता है, जिस ममताके कारण हम अनेक कल्पनाएं करते हैं। वह ममता ही हमें दुःख दे रही है। ये बाह्यपदार्थ मुझे दुःख देनेमें समर्थ नहीं हैं। संकट केवल अपनी कल्पनाओंसे है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करो कि ये कल्पनाएं मिटें और जैसे सर्वपदार्थ हैं वैसी समझ बनी रहे तो सब संकट दूर हो गये। मोह कटेगा तो संकट मिटेंगे। मोहके रहते हुए तो संकट बने ही रहेंगे। क्योंकि मोह स्वयं विकट संकट है। मोहकी प्रवृत्ति ही ऐसी है कि वह संकटोंको उत्पन्न कर देता है। ऐसे संकटोंसे दूर होना है तो सिद्ध पुरुष बनो और इस मोहके लगाव का विनाश करो। निर्मलतामें ही शांति प्राप्त हो सकती है।

भोगाः भुक्ता मुहुस्त्यक्तास्तानुच्छिष्टान् किमर्थये।
ज्ञानमात्रं हि भुञ्जानः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–३१॥

कहते हैं ये भोग तो बारबार भोगे हैं और भोगकर छोड़े हैं। और छोड़े हुए फिर मिले तो झूठे ही तो मिले। जिन भोगोंको भोग लिया और भोग करके छोड़ दिया, वही फिर मिलते हैं तो झूठे ही तो मिले कहलाते है। कहते हैं मैं ज्ञानानन्दघन प्रभु होकर इन झूठे भोगोंको क्यों चाहूं ? जैसे कोई भोजन कर लेता है और करके फिर छोड़ देता है, वमन कर देता है, सो वमन किए हुए भोजनको क्या कोई चाहता है ? नहीं। और अगर कोई चाहता है तो मूर्ख कहलायेगा। इसी तरह समस्त पुद्गल दिखनेमें जो आ रहे है ये अनेक बार भोगे और भोगकर छोड़े। अब तो छोड़े हुए झूठे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

भोगोंकी रुचि करें तो यह मूर्खता ही है। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। उन झूठे भोगों को मैं क्यों चाहूं। अनादिकालसे इस लोकमें अनेक बार जन्म मरण करते हुए भव बिताने वाले इस मुझ जीवने नाना प्रकारके भोग भोगे और वे अपने परिणमनसे छूट गये। तब समझ लो कि जो कुछ सम्पदा हमें मिली है वह सब झूठ ही तो है। उसको मैं क्यों चाहूं? सत् पुरुष झूठे भोजनकी वांछा तो नहीं करते। इसलिए मैं इन भोगोंको नहीं चाहता हूं। मैं तो ज्ञानमात्र स्वभावी हूं। मेरा जो स्वरूप है वह अनादिसे अनन्तकाल तक एक रूप है। ज्ञानमात्र कैसा विलक्षण है यह चैतन्यपदार्थ कि यहां तक ज्ञानप्रकाशके अतिरिक्त और कुछ प्रतीत ही नहीं होता। ऐसा विलक्षण भावात्मक मैं ज्ञानमात्र तत्त्व हूं। इसका कभी वियोग नहीं होता। इन भोगों का तो वियोग हो जाता है। ये परपदार्थ हैं, भौतिक है पर मेरा आत्मा मुझसे कहां अलग जायगा? यह तो मैं हूं। ऐसा नहीं है कि मेरा यह स्वरूप यह ज्ञानतत्त्व पहिले मुझमें न था, बादमें कहींसे मुझमें आया जो मुझमें नहीं था और इसमें वह मेरा स्वरूप नहीं है। वे पर-औपाधिक चीजें हैं। ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र स्वरूप हूं। इसको ही मैं भोगूं। मैं बाह्यपदार्थोंको तो भोग भी नहीं पाता। भोगके परिणाम उत्पन्न होते हैं और उन परिणामों के विषयभूत ये बाह्यपदार्थ होते हैं। इसलिए अपने आपमें बुद्धि न ठहर कर बाहरी पदार्थोंमें दौड़ती है और यह मान लेते हैं ये मोही कि मैं इन पदार्थों को भोगता हूं। किन्तु मेरा अस्तित्व तो बाह्यपदार्थोंमें है ही नहीं। मैं बाह्य पदार्थोंको कैसे भोग सकूंगा? अपनी कल्पनाओंसे भोगता रहता हूं। अपने आपमें अपने विकार करता हूं और उन विकारोंमें ही रमता रहता हूं। इन बाह्यपदार्थोंको न भोगना हो तो इनको अपनेमें स्थान न दो। मेरा यह ज्ञानरूप सिंहासन प्रभुके स्वरूपको विराजमान करने के लिए है। ये जगतके मायावी, मोही, कषायवान् जीवोंके ठहरानेके लिए यह ज्ञान सिंहासन नहीं है। सिंहासन कहते हैं श्रेष्ठ आसनको सो इस उपयोगमें मैं किसी बाह्यपदार्थको न बसाऊं और राग द्वेषादिक कलुषतारहित निजब्रह्मको ठहराता हुआ अपने में अपने आप सुखी होऊं। ये भोग तो अनेक बार भोग डाले। अब इन भोगोंकी प्रीतिसे लाभ नहीं है। ऐसा जानकर कि शुद्ध आनन्दस्वरूप ज्ञानमय अपना जो सहजस्वभाव है, उस सहजस्वभावकी उपासना करूं और अपनेमें अपने आप सहज सुखी होऊं। आनन्दका उपाय एक अपने आत्मदेवकी श्रद्धाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

भुक्त्वा त्यजानि भावोऽयं सव्याजो निवृतिं सदा।
भावयेयं निवृत्याहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३२॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कोई यह सोचे कि पहिलेमें भोग लूँ, फिर इन भोगोंको छोड़ूंगा। ऐसा जो परिणाम है वह छलसहित परिणाम है। ये भोग भोगे और भोगने के कालमें हम भोगोंकी निवृत्तिकी आशा करें, यह कैसे हो सकता है ? भोग भोगनेमें मोहवश जो यह मौज मानेगा फिर क्या उस मौजको छोड़नेकी चाह करेगा ? जैसे अभी भी अनेक गृहस्थियोंको देखलो, अनेकोंने जो पांच सात वर्ष पहिले यह मनमें धारणाकी होगी कि लड़का जरा समर्थ हो जाय, थोड़ासा ऐसा काम हो जाय, साल दो सालकी देर है, फिर मैं सब त्याग दूंगा और निर्विकल्प होकर धर्मसाधना करूँगा—ऐसे हैं आजकल अनेकों कि नहीं ? उनके दो साल क्या, पांच सात साल हो गये, जितने फँसे पहिले न थे उससे अधिक फँसे आज अनुभव करते हैं। वे दिन निकल गये। अब तो बड़ी बड़ी कठिनाइयां हैं। कोई दृढ़बन्धनकी अनुभूति कर रहा है। उन भोगोंका भोग करूँ फिर इन्हें छोड़ूंगा, ऐसी आशा करना व्यर्थकी बात है। ज्ञानका उदय होता है तो अभी छोड़ जितना छोड़ सकते हो। अपने पैरों को कीचड़में फँसा दें फिर निकाल कर अच्छी तरह धोवेंगे ऐसा सोचकर पैरोंमें कीचड़ लपेटने वाले क्या विवेकी कहला सकते हैं ? अरे किसी कारणसे कीचड़में गिर पड़े हैं, अब उसके बाद कीचड़को साफ करें, तो क्या यह विवेक है ? अगर कोई प्रोग्राम ही पहिलेसे बनाया कि मैं तो कीचड़में घुसूंगा और उसके बाद फिर साफ करूँगा तो ऐसा प्रोग्राम बनाने वाले को क्या आप विवेकी कह देंगे ? नहीं। उन भोगोंको भोगकर फिर छोड़ूँगा इस प्रकारका जो भाव है वह छलसे भरा हुआ है क्योंकि वर्तमान परिणामों वालेकी भोगोंके प्रति रुचि है। वर्तमान परिणमन कैसे हो रहा है ? क्या उस रुचि वाले परिणामोंके आधार पर यह आशा की जा सकती है कि भोगोंको छोड़ देंगे। एक चीज। दूसरी बात यह है कि जो त्याग करनेकी योग्यता रखता है ऐसे पुरुषको भी आयुका भरोसा नहीं है। पांच सात वर्ष और काम करते जायें, भोग भोगते जायें फिर छोड़ देंगे। तो क्या तुम्हें कलकी खबर है कि आयु रहेगी अथवा न रहेगी। जो कुछ करना हो सो अब कर लो, कलकी भी आशा न रखो। अपनी शक्तिके अनुसार जितना आपका परिणाम बन सकता है अभी बना लो। अगले सालकी आशा मत रखो। सो प्रथम तो यह बात है कि भोग भोगनेकी रुचिका परिणाम वर्तमानमें है तो उससे यह नहीं कहा जा सकता कि आगे छोड़ भी सकेंगे। दूसरे यह भी भरोसा नहीं है कि हम कब तक जीवेंगे। कदाचित् इसही कल्पनामें रहते रहते आयु समाप्त हो गयी तो त्यागकी यह कथा यहां ही धरी रह जायगी। इसलिए अभी ही निवृत्त होकर मैं अपने आपकी भावना करूँ, सर्वरागादिकों

http://www.jainkosh.org

से रहित जो चैतन्यस्वरूप मुझमें अनादि अनन्त अंतः प्रकाशमान है उसकी ही दृष्टि करूँ। अन्य सर्ववांछावोंको त्यागूँ और जितनी शक्ति है, जितना उपयोग चले, मोहसे हटाकर अपने उपयोगको मैं ज्ञानके स्वरूपमें ले जाऊं, भगवान् भी ज्ञानका स्वरूप है और हम आप भी ज्ञानके स्वरूप हैं। भगवान् के स्वरूपको सोचो तो आप ज्ञानस्वरूपमें पहुंचे। अपने ज्ञानविकल्पोंको त्यागकर अपने ज्ञानस्वरूपमें ठहरता हुआ सर्वरागादिक विकल्पोंका त्याग करूँ और अपने आपमें सहज सुखी होऊं।

निरायूरैचये हेतोः कालस्येच्छा हि तृष्णया।
तृष्णां स्वनाशिनीं मुक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३३॥

तृष्णाका नाच देखो, साहूकार लोग ब्याज पर रकम देते हैं ना। एक हजार रुपया दिया आठ आने सकड़े ब्याज पर तो एक वर्षमें कितना ब्याज आ गया ६० रुपया। एक हजार रुपया देकर साहूकार यह प्रतीक्षा करते हैं कि यह साल जल्दी व्यतीत हो तो ६० रुपया मिल जायेंगे। सो वे दिन गुजारनेकी इच्छा रखते हैं। जैसे ही महीना गुजर गया वैसे ही लाभ मिल गया। सो एक साल व्यतीत होनेका वे मन करते हैं। एक साल व्यतीत हुआ। एक साल व्यतीत होने पर क्या होगा? ६० रुपया मिल जायेंगे। इन ६० रुपयोंसे क्या होगा कि जीवन खोटा और गंदे विचारों वाला बीतेगा। उनकी तो ६० रुपयों पर ही दृष्टि है। तो इस तृष्णाका नाच देखो कि जो तृष्णा अपना नाश कराने वाली है इसही तृष्णासे अधिक प्रीति है कि अपने नाशकी भी परवाह नहीं करते और धन पर दृष्टि देते हैं। ये सब पर्याय बुद्धिके भाव हैं। अभी किसीसे पूछें कि तुम्हारा भैया कितने वर्षका हो गया? तो आप खुश होकर ढंगके साथ बोलते हैं कि हमारा मुन्ना तो ११ वर्षका हो गया। उसका अर्थ क्या है कि जितने दिन तक जीना था उसमें से ११ साल नष्ट हो गये हैं। अर्थ तो यह है मगर आप लोग बड़े ढंगसे बोलते हैं कि मेरा मुन्ना तो ११ वर्षका हो गया है। अपने आपकी उमरको देखकर गर्व करते हैं कि अब मैं २५ वर्षका होगया, २८ सालका हो गया, हो क्या गया? २८ साल गुजर गये, २८ साल मर गये, अब बुढ़ापेकी उमर आती है तब ख्याल होता है और ऐसी प्रार्थना करते हैं कि भगवान् यह सूर्य अस्त न हो, नहीं तो हमारी आयु जल्दी घट जायगी, हम जल्दी मर जायेंगे। यह तृष्णा अपने आपको नाश करने वाली है। इस तृष्णाको छोड़ो, पंचपरम-पद परमेष्ठीपद ये तुम्हारे ही पद हैं। इस रूप तुम्हारी ही स्थिति होगी। इस पंचपरमेष्ठी पदोंका ध्यान करो। स्वरूपसे चिगकर धर्मकी ओर प्रीति बढ़ाओ। इन भोगी और मोही जनोंसे प्रीति करके कुछ लाभ नहीं होगा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वे धन्य हैं बड़भागी पुरुष जो सर्वप्रकारकी तृष्णाओंका उच्छेद करके धर्मी और धर्मात्मा जनों से नेह लगाते हैं, वे पुरुष धन्य हैं। प्रत्येक धर्मात्माजनों से स्नेह करके निष्कपट होना चाहिए। उनमें किसी प्रकारके धनके पानेकी लालसा नहीं होती। किसी प्रकारका स्वार्थ न हो, केवल उन धर्मात्मापुरुषोंके आत्माके रत्नत्रयको जानकर उस रत्नत्रय धर्ममें भक्ति रखकर प्रेम हो। धर्मात्माजनोंको देखकर गद्गद् हो जावो। प्रीति करो तो धर्ममें और धर्मात्मावोंमें किन्तु यह संसार उन मोहीजनोंमें प्रीति करता है जो स्वयं अज्ञानी तो हैं ही, मगर आपको भी दुर्वचन बोला करते हैं, कष्ट दिया करते हैं, परवाह नहीं करते, इज्जत नहीं रखते। वे मोही जन हैं फिर भी ऐसे मोहियों से ही प्रीति जोड़ते हैं। इन तृष्णावोंका नाश करो, मोहका उच्छेद कर अपने आपके धर्ममें और धर्मात्माओंके स्वरूपमें आदर प्रीति रखो और परचिंतावोंसे विमुक्त होकर अपनेमें अपने आप सुखी होओ।

परान् पश्यामि व्यापन्नान् तथा पश्यानि स्वं यदि।
दोषमुक्तः स्वलक्ष्यः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३४॥

जिस प्रकार दूसरे जीवोंको आपदामें पड़ा हुआ देखते हो उसी प्रकार यदि अपने आपको संसारकी नाना आपत्तियोंमें पड़ा हुआ देखो तो उस आपदासे मुक्त होकर निज शुद्ध आत्माका लक्ष्य करके अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी हो सकते हो। जैसे कोई जंगल जल रहा है उस जंगलके बीच कोई पुरुष पहिलेसे था। वह जंगलमें जलती हुई आगको देखकर भागकर किसी पेड़पर चढ़कर शाखाओं पर बैठ गया। वह बैठे-बैठे चारों ओर देखता है कि आग लग रही है, लो वह देखो खरगोश जल गया, वह हिरण मर गया, वह गाय मर गयी। दूसरे जीवोंको तो आपदामें पड़े हुए देख रहे हैं और यह समझ रहे हैं कि आग बढ़कर इस पेड़में भी आयेगी और इस पेड़को भी भस्म करेगी, फिर मैं कैसे जीवित रह सकूँगा? यह देख रहा है कि आपत्ति तो हमारे ऊपर भी दूसरे जीवों की तरह आयेगी। इसी तरह जगत्के ये संसारी मोही प्राणी दूसरोंको तो विपत्तियोंमें घिरा हुआ देख रहे हैं, देखो इनका यह टोटा पड़ गया, इनके ये माता पिता गुजर गये, इनका देखो इकलौता बेटा गुजर गया। कैसा दुःखी है? इनको चोर डाकुवों ने लूट लिया, ये खानेको भी मुहताज हो गये, सो नाना प्रकारसे आपत्तियों में फंसा हुआ देख रहे हैं सबको, पर अपने आपको नहीं जानते कि आज ठीक पुण्यका उदय है सो मनको स्वच्छन्द चला लिया, जिस पर चाहे हुकूमत कर लिया, दुःखी कर लिया पर कदाचित पापोंका उदय आ गया तो उसमें कौन साथी होगा? वे सब संकट तो अकेले ही भोगने पड़ेंगे। दूसरे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवोंको यह जीव आपत्तियोंमें घिरा हुआ देख रहा है पर अपनेको भी तो यह जीव समझे कि इस जीवके मायाका कुछ भरोसा नहीं है। जो सम्पदासे भरपूर है तो एक रातके बाद दूसरे दिन क्या होगा? इसको कोई कुछ नहीं कह सकता है। कितनी आपदा घिरी हुई है। जब श्री रामचन्द्र जीका राज्याभिषेक होनेको था तो सभी जुड़ गये। अभिषेक में राज्यसिंहासन पर आसीन करनेका पूरा प्रोग्राम बन चुका। कोई पन्द्रह बीस मिनटकी देर होगी। किसको कल्पना थी कि अब यहां अनहोनी क्या गुजरेगी? अचानक क्या हुआ कि दशरथ जी कहते हैं कि यह राज्य भरतको मिलेगा। अब भरतका अभिषेक होगा। एकदम इतनी बात किसी भी आत्माकी कल्पनामें न थी। सबसे बड़े भाई राम और भरत उनसे छोटे किसीको भी कल्पना न थी कि दशरथ महाराज यों बोल देंगे। वे क्यों बोल गये, यह बात अलग है। कारण वहां यह था कि दशरथ रामचन्द्रजीको राज्य देकर संन्यास लेने वाले थे और पिताका संन्यास देखकर भरत भी संन्यास वाले थे। तो केकई को पुत्रका व्यामोह हो गया कि मेरे पति भी मुझसे जुदा हो रहे हैं और मेरा पुत्र मुझसे जुदा हो रहा है। कुछ स्मरण आ गया कि मेरा वचन महाराज के पास धरोहरमें रखा है। केकईने रथको संग्राममें इस प्रकार चलाया था कि उस संग्राममें दशरथकी विजय हो गयी थी। उस समय दशरथने वर दिया था कि जो मांगोगी सो मिलेगा। सो केकई ने क्या मांगा कि यह राज्य भरतको दिया जायेगा। किस लिए मांगा? रामचन्द्रजी को दुःखी करनेके लिए नहीं, रामचन्द्रजी को बनमें भेजने के लिए नहीं बल्कि भरतको अपने घरमें रोकने के लिए। हुआ क्या कि रामचन्द्र जी प्रसन्नचित्त होकर वहांसे चल दिये। यह सोचकर कि यदि इन महलोंमें मैं रहूंगा तो मेरे रहते हुए भरतकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी। लोगोंका झुकाव मेरी ओर रहेगा। फिर एक राजा महाराजा बनकर भरत जी रह सकें—यह मुश्किल हो जायेगा। इसलिए बनको चल दिये थे। क्या हो रहा था, आध ही घंटेमें क्या हो गया? यह बात उन महापुरुषों को भी विदित न हुई। हम आप छोटे पुण्य वाले, छोटी वैभव सम्पत्ति वाले इस सम्पत्तिके प्रति ऐसे भाव बनाए हुए हैं कि ये मुझसे अलग कैसे हो सकेंगे? सो भाई जैसे दूसरे पुरुषोंको विपदाओंमें ग्रस्त देख रहे हो उसी प्रकार अपने आपको भी विपदाओं में ग्रस्त देखो। मैं कर्मोंसे घिरा हुआ हूं। अनन्त भवोंके जो कर्म बांधे थे उनकी भी सत्ता मुझमें भरी हुई है। किस समय किन कर्मोंका उदय आयेगा तो क्या स्थिति हो जायगी? अपने आपको विपदाओंसे ग्रस्त देखो और साथ ही इन सब विपदाओंको एक क्षणमें ही छुटा देने वाला

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जो अपना ज्ञानानन्दमय प्रभुत्व है उस भगवती शक्तिको तो देखो। अपने आपमें घटघटमें बसी हुई इस भगवती चेतनशक्तिके दर्शनके प्रसादसे संसार के सारे संकट टल जाया करते हैं। ऐसी विचित्र भगवती शक्ति अपने आपमें है। उसको मैं निरखूं और अपने ही ज्ञानबलसे अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

स्वोपादादेन जायंतेऽर्था जायन्तां न वा ततः।
हितं नैव निजं दृष्ट्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३५॥

हम और आप पर संकट है तो अज्ञानका संकट है, मोह का संकट है। और का किसी चीजमें नाम ही नहीं है। जगत्के प्रत्येक पदार्थ स्वरूपास्तित्व लिए हुए हैं। सभी पदार्थ अपनी योग्यताके अनुसार अपना परिणमन करते चले जा रहे हैं। कोई पदार्थ अपनी परिणतिसे किसी दूसरे पदार्थको बदल नहीं सकता। कोई किसीका कुछ हो नहीं सकता। ऐसा सहजस्वरूपास्तित्व है उन पदार्थोंका, वे पदार्थ परिवर्तनशील हैं। स्वतंत्र पदार्थ हैं इस कारण वे अपने-अपने उपादानसे उत्पन्न हो रहे हैं। प्रत्येक पदार्थमें प्रतिसमय नवीन-नवीन परिणमन होता है। जैसा आमका फल देखा है ना। पहिले वह हरा है, कुछ समय बाद पीला होता है, लाल होता है, पक जाता है, मिट्टीमें मिल जाता है। उसकी दशाएँ प्रतिसमय नवीन-नवीन होती हैं। जैसे यह मनुष्य है ना, पहिले बच्चा हुआ, फिर जवान हुआ, फिर बूढ़ा हुआ। बदलता रहता है। सब पदार्थ प्रतिक्षण परिणमते रहते हैं। परिणमना तो उस द्रव्यकी अवस्था है। वह अपने आपमें से परिणमन बनाता है। दूसरे पदार्थका परिणमन ग्रहण नहीं करता। जैसे दो स्नेही मित्र किसी वियोगकी घटनासे दुःखी हैं, मिल गए तो परस्पर गले से मिल कर रोने लगे, दुःखी होने लगे। वहां एक दूसरेकी आत्मा का दुःख नहीं है किन्तु अपने-अपने कषायों के अनुसार अपने आपमें अपनी कल्पना बना कर स्वयं व्याकुल हो रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने ही उपादानसे परिणमते हैं। किसी को न मैं परिणमा सकता हूं और न कोई मुझे परिणमा सकता है। सब अपने-अपने उपादानसे उत्पन्न होते हैं। होते हैं हों, उत्पन्न न होते हों न हों। यद्यपि ऐसा नहीं है कि कोई पदार्थ ध्रुव अपरिणामी रह जाय परिणमें ही नहीं, परिणमेगा। लेकिन परपदार्थोंके परिणमनसे यहां क्या हित है? कोई परपदार्थ किसी रूप परिणम रहा हो, परिणमा करे, वह इस प्रकार परिणमें तो क्या और अन्य प्रकार परिणमें तो क्या? जो चीज चलती है चलो उससे मेरा कोई हित नहीं है, ऐसा सर्वपदार्थोंको अहितकर देखकर उनसे विरक्त हो, उनमें न लगो। परसे कुछ न चाहो। ये लोग मुझे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कुछ समझलें, जान जायें ऐसी वाञ्छा न करो। दूसरे समझ जायेंगे तो वे मुझे नहीं समझेंगे। वे अपने ज्ञेयाकारको समझेंगे। उनका जो विचार बना उन विचारोंको ही वे समझ सकते हैं। दूसरे मुझे कुछ समझ ही नहीं सकते। कदाचित् मानलो मुझे जान जायें अर्थात् मेरे बारेमें कल्पनाएँ कर डालें तो उनकी कल्पनाएं किए जानेसे क्या मेरा कुछ सुधार बिगाड़ हो जायगा? मैं अपने श्रद्धान, ज्ञान आचरणसे रहूं तो मेरा सुधार है और मैं विपरीत श्रद्धान ज्ञान आचरणमें रहूं तो मेरा बिगाड़ है। सबको अपनेसे जुदा समझो ज्ञानज्योति जगावो। जैसे जगत्के अनेक प्राणी अपनेसे पृथक हैं वैसे ही घरके १०-५ लोग भी अपनेसे अत्यन्त जुदे हैं। ऐसा सबसे अपने को न्यारा जानकर उनसे उपेक्षा भाव धारण करो। परकी प्रीतिसे लाभ न मिलेगा क्योंकि वे पर ही हैं, वे कब तक तुम्हारा साथ देंगे? वे सब बिछुड़ जायेंगे। उनमें आपका रंच भी अधिकार नहीं है। परपदार्थ अपने ही उपादानसे परिणमते हैं, आते हैं, जाते हैं, रहते हैं। उन बाह्यपदार्थोंमें आप की कोई करतूत नहीं चल सकती। इस कारण परपदार्थोंका व्यामोह तज कर मैं स्वयं सुखी होऊँ। मैं स्वयं हितमय हूं, सो मैं अपने इस निजतत्त्व को ही देखूं और निज चैतन्य भावोंमें मग्न होकर सर्वरागादिक भावोंसे पृथक् होकर अपनेमें अपने ज्ञानरसके अनुभवसे लिप्त होऊँ, संतुष्ट होऊँ और संसारके कर्मरूपी संकटों का क्षय करनेमें मैं स्वयं समर्थ होऊँ। बाह्य पदार्थोंका मोह छोड़ो और अपने आपके स्वभावमें अपना उपयोग जोड़ो, इसमें ही अपना हित है।

आसमस्मि भविष्यामि सुखे दुःखेऽहमेवकः।
परयोगे न लाभो मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३६॥

मैं सुखमें और दुःखमें एक अकेला ही था, अकेला ही हूं और अकेला ही रहूंगा। परपदार्थोंके संयोगसे कोई भी लाभ नहीं। यह बात उन पुरुषोंके हृदयमें रहती है जिनका परपदार्थोंका स्वरूपास्तित्व भिन्न निर्णीत हो चुका है। जगत्में कोई भी जीव किसी भी जीवको न चाहता है, न मानता है, न राग करता है, न द्वेष करता है। कोई जीव किसी दूसरे जीव पर कुछ करता ही नहीं है। क्यों नहीं करता कि जीव अपने प्रदेशोंमें मेरा गुण मेरे ही प्रदेशमें है और उन गुणोंका जो परिणमन हो सकता है वह भी अपने ही प्रदेशोंमें है अर्थात् किसी भी जीव वा द्रव्य अपने स्वरूपसे बाहर नहीं है। गुण अपने प्रदेशसे बाहर नहीं और क्रिया अपने प्रदेशोंसे बाहर नहीं। तब रागद्वेष, इच्छा चारित्रगुण की क्रिया है। चारित्रगुण आत्माके प्रदेशोंमें है और मेरा परिणमन अपने आपमें ही है तो जीव इच्छाएँ करता है तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह अपने आपकी ही इच्छाएं करता है। राग करता है तो अपने आपको रक्त करता है। द्वेष करता है तो अपने आपको द्विष्ट करता है। अर्थात् राग का प्रयोग दूसरे जीव पर कोई नहीं कर सकता। जैसे किसी अनहोनी घटनामें दो भाई दुःखी हो गए अथवा एक भाई की तकलीफके कारण दूसरा भाई दुःखी हो गया तो वहां यह नहीं है कि एक भाई ने दूसरेको दुःखी कर दिया या बड़ी घनिष्ट मित्रतासे दो भाई रह रहे हों तो वहां यह नहीं है कि एक भाई दूसरे भाईको चाह रहा है। दूसरेको चाह ही नहीं सकता। क्यों कि चाह जीवका एक परिणमन है और वह चाह उस जीवमें ही समाप्त हो जायेगी। उसका परिणमन उसके बाहर नहीं है। जीवने चाहा तो अपने कषाय परिणमनको चाहा, दूसरे आत्माको नहीं। यह वस्तुगत स्वरूपकी कथा है। यदि मेरे दुःखके कारण आपको दुःख उत्पन्न होता है तो मैं आप को दुःखी नहीं करता किन्तु मेरे दुःखको देखकर आप स्वयं अलगसे दुःखी हो जाते हैं। कभी किसीके यहां फेरा करने कोई रिश्तेदार जाता है। फेरा क्या कि किसी मरनेपर उसके घर रिश्तेदार लोग जाते हैं तो उनको घरके लोग देखकर ज्यादा दुःखी हो जाते हैं। और उनको अत्यधिक रुलाई आ जाती है। वहां यह नहीं है कि रिश्तेदारों ने उसे दुःखी कर दिया। वास्तव में रिश्तेदारोंने उनके दुःखको बांट नहीं लिया। पर रिश्तेदार भी दुःखी हो गये, वे भी दुःखी हो गये। दोनों अपने आपमें दुःखी हो रहे हैं। कोई किसी दूसरेके दुःखसे नहीं दुःखी हो रहा है। मैं जब दुःखी था तब अकेला ही दुःखी हो रहा था। जब सुखी था तब अकेले ही सुखी हो रहा था। मिलकर कोई सुख दुःख नहीं करता। सुख और दुःख कोई बांटता नहीं है। सब अपने २ बारेमें दुःखी होते और अपने-अपने बारेमें सुखी होते हैं। जैसे मैं अकेला ही दुःखी था, इसी प्रकार आगे भी अकेला ही दुःखी होऊंगा। जिसे लोग सम्वेदना कहते हैं, उसको देखकर बड़ी सम्वेदना उत्पन्न होती है, बड़ा दुःख होता है। ऐसा अभिप्राय जाहिर किया। उसको एक दुःख नया लग गया। मेरे दुःखसे दुःखी नहीं होता। उसी तरह दो आदमी मिलकर किसी काममें सुखी होते हैं तो दूसरेके सुखसे यह सुख नहीं होता किन्तु इसे अपना एक सुख और मिलता है। प्रत्येक जीव अपने ही सुखसे अकेला ही सुखी है, अपने ही दुःखसे अकेला ही दुःखी है। किसी परके संयोगसे मेरा कोई लाभ नहीं। मैं अपने द्रव्यसे क्षेत्रसे कालसे भावसे परिपूर्ण हूं। जैसे चूल्हे पर बटलोही रख दिया भात बनानेके लिए। नीचे आग जल रही है। आग अपने स्वरूपसे अपनेमें पूर्ण है और पानी अपने स्वरूपसे अपनेमें पूर्ण है। आगका संयोग पाकर पानी गर्म हो जाता है तो पानी अकेले ही अपनी ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परिणति से शीतपर्याय को छोड़कर गर्म हो जाता है। तो अग्निने पानीको गर्म नहीं किया। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक योग है कि सन्निधान पाये तो पानी गर्म हो जाता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक योग है कि अपने इष्ट रिश्तेदार को देखा तो अपना दुःख सुख उमड़ आता है। कहीं मेरे सुख दुःखसे बाहर में सुख दुःख न होगा। वास्तवमें मैं अकेला ही हूं। जितने भी दुःख हैं वे पर पदार्थोंके संयोगसे होते हैं किन्तु परपदार्थोंसे नहीं होते। मैं तो केवल एक ज्ञानदर्शन प्रकाशरूप हूं। अब मैं यह समझूँ कि मेरा लोकमें कहीं कुछ नहीं है, न कोई जीव मेरा है, न कोई अणु मेरा है। मैं अपनी ओरसे ही कल्पनाएं बनाकर सुखी दुःखी होता हूं। इस कारण सर्व परपदार्थोंकी प्रतीक्षाको मैं त्याग दूं। शुद्ध आनन्द, सत्य आनन्द केवल ज्ञानमात्र अपनेको निरखनेसे होता है। जिस क्षण ऐसी दृष्टि होती है कि मैं अपने आपको केवल जानन स्वरूप ही देखूं, उस क्षण जो आनन्द होता है वह शुद्ध और सहज है। वह आनन्द तो स्वाधीन है, परकी उपेक्षासे उत्पन्न नहीं होता है। जो सुख परकी उपेक्षासे उत्पन्न होता है वह सुख, सुख नहीं है, दुःख ही है। क्योंकि परके परोक्ष करनेमें क्लेश ही होते हैं। परकी आशा रखनेसे संक्लेश ही मिलते हैं। इसलिए ऐसे सुखकी दृष्टि हमें करनी चाहिए जो स्वतंत्र है, अपने आपसे अपने आपमें प्रकट होता है। ऐसे सुखस्वरूप निजचैतन्य ब्रह्म में ठहर कर ज्ञातामात्र रहकर, अपने आप सुखी होऊं।

खेदेन विषये वृत्तिर्वृत्तौ पश्चाच्च खेदता।
भोगः खेदमयस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥ ७–३७॥

देखिये जगत्के जीव विषयोंमें ही मौज मनाते हैं, मगर विषयोंका प्रसंग, दुःखसे आदिमें, मध्यमें और अन्तमें भरा हुआ है। विषयोंकी प्रवृत्ति तब होती है जब इस जीवको कोई खेद हो। फोड़े पर मलहम पट्टी तब की जाती है जब कि वेदना हो। बुखारमें कम्बल कब ओढ़ते हैं? जब कोई वेदना हो। वेदनाको मिटानेके लिए मरहम पट्टी की जाती है, पसीना निकालनेके लिए कम्बल ओढ़ा जाता है। इसी प्रकार विषयोंमें जितनी प्रवृत्ति है, वह खेद के कारण होती है। क्षुधाकी वेदना न हो तो खानेकी क्या आवश्यकता? खानेसे पेट भरा हो तो खानेकी क्या आवश्यकता? खानेकी प्रवृत्ति वेदना के कारण होती है। उसी प्रकार पंचेन्द्रियके विषयोंमें जो प्रवृत्ति होती है वह खेदके कारण होती है। खेद न हो तो विषयोंमें कौन लगे? अभी यहां बैठे हैं, रेडियो सुनना है तो रेडियो सुननेकी प्रवृत्ति क्यों हुई? कोई मनमें खेद नहीं है। बाह्यप्रवृत्ति जितनी होती है, वह खेदपूर्वक होती है। हम बोलने लगे कोई खेद है तो बोलने लगे। आप सुनने लगे, कोई खेद है तो सुनने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लगे। आप घर गए तो कोई खेद होनेसे, आप घरसे हटे तो कोई खेद होने से। जितनी बाह्यप्रवृत्ति होती है वह किसी न किसी खेदके कारण होती है और उस खेदके मिटानेका इलाज है, विषयों की निवृत्ति। यह तो है विषयों के प्रारम्भकी बात, मगर विषयोंमें जब लगते हैं तो उन विषयोंके कालमें भी बहुत खेद है। हलुवा, पूड़ी, मिष्ठान्न आदि जब खाते हैं तब समतासे नहीं खाते हैं, लप-लप जल्दी-जल्दी मौजसी मनाते हुए खाते हैं। कोई समतासे धीरे-धीरे चबाकर, जैसे कि कुछ खाने की इच्छा ही नहीं है, इस तरहसे नहीं खाते हैं। इसी प्रकार विषयोंके भोगके समय भी लपलप करते हुए एक उचट सी दिलमें रहती है, एक जल्दीबाजी करते हैं, वहां भी तो खेद हो रहा है और जब विषय भोग चुकते हैं तो उसके बाद भी खेद होता है। जैसे आजकल गर्मी है, खब डटकर खा लिया, पेटमें पानी भर लिया, फिर भी गला सूख रहा है, दुःखी हो रहे हैं। पानी भीतर नहीं जाता है और प्यास की वेदना लग रही है। कोई भी भोग हो, उसे भोगनेके बाद भी खेद होता है। ये विषयोंके भोग दुःखके ही कारण हैं। भोगते समय खेद होता है, पीछे भी खेद होता है, प्रारम्भसे लेकर अन्त तक खेदमय ही है। दुःखोंके बिना विषयोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। आवश्यकता क्या है? अगर समता रससे पूरित है, ज्ञान भावनासे तन्मय है, आनन्दरसको चख रही है, तो विषयोंमें प्रवृत्ति किस लिए होगी? इसलिए ये विषयभोग नियमसे त्याज्य हैं। इन विषयभोगोंके त्यागनेमें ही शांति है। अभी यह भीतरका रोग है। सब अपने-अपने रोगमें बस रहे होंगे। भले ही ऊपरसे कुछ मुद्रामें बड़प्पन बना लिया गया हो, कुछ वेशभूषा, श्रृङ्गार बड़ा बनने वाला झलका लिया हो, पर अन्दरसे तो अपने इस राग का अनुभव करते ही जा रहे हैं। इच्छा ही एक रोग है, जो संसारमें रुलाने वाली है।

शंसकाः मां न पश्यन्ति पश्यन्तो व्यक्त्यलक्ष्यकाः।
को का निष्ठानिजास्थास्था स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३८॥

एकत्व भावना दुःखोंको दूर करने वाली और शांतिको उत्पन्न करने वाली है। जब यह जीव अपनेको अकेला अनुभव करता है तब यह शांति प्राप्त होती है। जब यह अपनेको परमें लगा हुआ, परसे बन्धा हुआ मानता है तो इसको आकुलताएँ उत्पन्न होती हैं। किसीको मरण पर बड़े दुःखकी पीड़ा हो, उस मनुष्यको कोई समझाता है तो इन्हीं बातोंको समझाता है कि भाई सब अकेले ही हैं, तुम भी अकेले हो। जो गुजर गया है वह तुम्हारा साथी न था, न होगा। तुम अकेले ही आये हो, अकेले ही रहोगे, मोहको छोड़ो। शांतिके लिए मोहको छुटानेका उपदेश दिया जाता है। घरमें सब कुछ है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वैभव है, परिवार है, सर्व कुछ संयोग है किन्तु उन पर दृष्टि रहेगी तो आकुलताएँ ही हाथ आयेंगी। उनसे रहित एकाकी ज्ञानमात्र जब अपने लक्ष्य में अपनी आत्मा आती है तब उसे एक अद्भुत् शांति प्राप्त होती है। इसी प्रसंगमें इस प्रशंसाका भी प्रसंग है। दूसरे प्राणी प्रशंसा करते हैं तो यह मानते हैं कि लोग मेरी प्रशंसा करते हैं। किन्तु प्रशंसा करने वाले पुरुष दूसरेकी प्रशंसा नहीं करते हैं। जैसे भगवान् को पूजने वाले भक्त भगवान् को नहीं पूजते हैं किन्तु भगवान्का स्वरूप इस प्रकार है—ऐसी उस भक्तके ज्ञानमें बात जँची जिससे आनन्दित होकर वह अपनी चेष्टा करता है। अर्थात् वह अपने गुणोंके उत्कर्ष को पूजता है। भगवान्को नहीं पूजता है। अपने गुणोंके उत्कर्षके पूजनके समय विषयभूत भगवान्का स्वरूप है। इसलिए भगवान्के स्वरूपको पूजनेका उपचार किया जाता है। वस्तुतः पूजने वाला अपने को ही पूजता है, प्रशंसा करने वाला पुरुष अपने आपको ही प्रशंसता है। कोई मुझे प्रशंसित नहीं करता। मेरी प्रशंसा करने वाला पुरुष क्या मुझे जानता है? नहीं। मैं तो ज्ञानमात्र आत्मा हूं, जिसका नाम नहीं है। जैसे सभी चेतन हैं तैसा यह मैं भी चेतन हूं। दूसरोंमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। सब एक समान हैं। ऐसा ज्ञायकस्वभावी चैतन्यतत्त्व मैं हूं। क्या मुझको प्रशंसा करने वाले ने जाना है? नहीं जाना है। जब मुझे नहीं जाना और इस शरीरसे ही कल्पना कर रहे हैं कि यह अमुक है। ऐसा समझकर यदि प्रशंसा कर रहे हैं तो करें। उसने मेरी प्रशंसा नहीं की, वह मुझे पहिचानता ही नहीं है तो प्रशंसा करेगा ही क्या? यदि उस प्रशंसा करने वाले ने मुझे जान लिया है तो उस जाननेके साथ ही वह पुरुष ज्ञानमें प्रवृत्ति करने लगेगा। वह स्वयं ज्ञानमय हो जायेगा। वह प्रयत्न कर ही नहीं सकता। प्रशंसा करने वाले लोग मुझे जानते नहीं हैं तो प्रशंसा कर ही क्या सकते हैं? इस लिए मैं किस पुरुषकी ओर आकृष्ट होऊँ? किसमें अपनी निष्ठा बनाऊँ? किसमें अपना विश्वास समझूँ? अरे अपना ही आदर एक सच्चा आदर है। अभी लोकव्यवहारमें देखो, कोई पुरुष किसी पुरुषकी प्रशंसा करता है तो वह सर्व प्रशंसा निन्दारूप है। प्रशंसा कोई नहीं करता। प्रशंसा करने के लिए वह खड़ा होता तो है। मगर निन्दा कर बैठता है। पर-प्रशंसा निन्दा है। कोई क्या प्रशंसा करेगा? कोई किसी सेठको कहदे कि यह सेठ साहब बड़े मान्य व्यक्ति हैं। इनके चार लड़के हैं, एक मिनिस्टर है, एक बड़ा डाक्टर है, एक ऊँचा प्रोफैसर है, एक बैरिस्टर है। ऐसी अगर किसी ने प्रशंसा कर दिया तो इसका मतलब क्या हुआ कि सेठ साहब कोरे बुद्धू हैं। इनके लड़के तो बुद्धिमान हैं, मगर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सेठ साहब कुछ नहीं हैं। यह तो उनकी बुद्धिकी तारीफ हुई। यह तो गई निन्दा, मगर ये मानते हैं अपनी प्रशंसा। याने इनके लड़कोंमें तो ये गुण हैं पर इनके पास कुछ गुण नहीं। तो यह हो गयी निन्दा और क्या बोलते हैं कि इनके पास ६-७ खंड तककी हवेलियां हैं, बड़ी सुन्दर हैं। तो यह हो गई सेठकी निन्दा कि हवेलियोंमें तो सुन्दरता है, पर सेठ जीमें कुछ सुन्दरता नहीं है। मकान तो बढ़िया है, इसके अमुक दरवाजे पर बड़ी सुन्दर नक्काशी खुदी है। तो परमार्थसे यह हो गई सेठकी निन्दा। खैर आप कहेंगे कि सेठ जी बड़े परोपकारी हैं। दूसरोंके उपकारके लिए अपना तन, मन, धन सब लगा देते हैं। क्यों जी, यह प्रशंसा हुई कि नन्दा? अगर वह सेठ ज्ञानी है तो वह सोचेगा कि यह केवल मेरा जाननमात्र है और परपदार्थोंके कर्तृत्वका अपराध मुझपर लगाते हैं कि यह परका कर्ता है। यह स्वरूप तो प्रभुके स्वरूपको बर्तने वाला है और यह परपदार्थों में कर्तृत्वकी बुद्धि लिए है। मुझ पर यह आरोप करते हैं कि इनमें परकर्तृत्वकी बुद्धि है। तो यह प्रशंसा नहीं हुई, यह हुई निन्दा। तीसरी बात यह है कि प्रशंसा करने वाले ने आपमें आनन्द उपजाया कि क्लेश उपजाया, इसका भी निर्णय करो। प्रशंसा करने वाला तो आपसे अपनी खुदगर्जी की पूर्ति करना जानता है और उस अपने स्वार्थमें आपकी प्रशंसा करेगा। अब उसको सुनकर आप यह चाहेंगे कि यह बड़ा भला है, मैं इसको कितना सुखी कर दूं? क्या-क्या कर दूं तो प्रशंसा करने वाले के पीछे आप बड़ा परिश्रम करते हैं। उसने क्या किया? दो बातें बोल दिया और आप उसके लिए बिक गये। ये बच्चे लोग अपने माता पिता के खिलाफ चलकर व्यर्थ ही दुःखी होते हैं। अरे जो ये २०-२५ सालके बच्चे हैं वे अपने पिताकी जरा बात तो मान लें, थोड़ासा हाथ जोड़ लें, इतना ही तो श्रम करना है, फिर तो बच्चे लोगोंको सुखी करने के लिए यह बाप तुम्हारे पीछे कष्ट उठायेगा। उस बच्चेको सुखी ही देखना चाहेगा। जरा सी दवा है, जरा प्रेमसे बोलना है, पैर छू लेना है, बात मान लेना है, फिर तुम्हारे सुखी करनेके लिए यह बाप जी जान छोड़कर श्रम करेगा। आनन्दसे रखना चाहेगा। जरासी बात नहीं करते तो खुद दुःखी होते हैं। बापको तो दुःखी करते ही हैं। तो क्या है? प्रशंसा होनेसे मनुष्यको लाभ कुछ नहीं है। उससे केवल खेद ही होता है। चौथी बात क्या है कि प्रशंसा सुनकर यह मनुष्य अपने सन्मार्गसे हट गया। अब यह ऐसे मौजमें आ गया कि सत्कर्म करना, पापों से छूटना, इन बातोंकी सावधानी उसके नहीं रहती। जब अपने माफिक यह समझ लिया कि मैंने अपने जीवन को सफल कर डाला। प्रशंसा चाहता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

था और प्रशंसा मिल गई तो इससे बढ़कर जीवनमें अब करना क्या है ? ऐसी जहां बुद्धि आ जाती है वहां सन्मान का चलना समाप्त हो जाता है। यह प्रशंसा हमारे अहितके कारण है। प्रशंसाकी जैसी बात है ऐसी ही इस सम्पदाकी बात है। यह सम्पदा भी हमारे अहितका कारण है। अगर सम्पदा अहितका कारण न हो तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती, तीर्थंकर इस सम्पदा को त्यागकर, वस्त्र तक को त्यागकर संगमें कुछ भी तिलभर न रखकर केवल अपने ज्ञानकी उपासनामें लगे। शुद्ध आनन्द तो केवल अपने आपकी दृष्टि में भरा है, किसी पदार्थसे आनन्दकी आशा न करो और न आनन्दकी श्रद्धा रखो। यह बात मूलमें होती है। हम यदि सुखसे रीते हैं तो सैंकड़ों आदमी भी उद्यम कर डालें तो सुख नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि हम सुखसे भरपूर हैं तो हमें दूसरों से सुखकी क्या आशा करना है ? अपने इस शुद्धस्वरूप का यथार्थ निर्णय किए बिना शांतिका मार्ग नहीं मिल सकता है। वे स्वयं भिखारी बने हैं जिनसे सुखकी आशा करते हैं। किसी दूसरे से हित और सुखकी आशा न करो। यह आत्मा सिद्ध प्रभुके समान अनन्त ज्ञान सुखका धारी है किन्तु 'आशावश खोया ज्ञान। बना भिखारी निपट अजान ॥' ऐसी इसकी स्थिति बन रही है। अपने स्वरूपको संभालूँ तभी मैं सुखी हूं। ये प्रशंसकजन मुझे नहीं देखते हैं। तो ये प्रशंसा क्या करेंगे ? यदि मुझे देखते हैं तो मेरे शुद्ध ज्ञायकस्वभाव को जान लिया। उसकी दृष्टिमें मैं व्यक्ति न रहा। यह आवांतर सत् न रहा, एक विशिष्ट सत् न रहा। उसके लिए एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश ही रहा तो शुद्ध चैतन्यकी दृष्टिकी कौन प्रशंसा कर सकता है और कौन निन्दा कर सकता है ? प्रयोजन यह है कि अन्य कोई प्राणी मेरा कुछ नहीं करता, मैं दूसरेका कुछ नहीं करता। मैं अपने आपमें स्वयं कल्पनाएँ, विचारधारायें बनाता रहता हूं। मेरा असर मुझपर होता है किसी दूसरे पर मेरा असर नहीं होता है। ऐसा अत्यन्त एकाकी अपने आपको समझने वाला ज्ञानी पुरुष मोक्षके मार्गको प्राप्त करता है और जो अपनेको अकेला ही समझ सकता है वह संसारमें क्लेशों को ही पाता है। एकत्व भाव है—आप अकेले ही अवतरे, अकेले ही आपका मरण होता इस जीवका कोई साथी नहीं होता—ऐसा यदि ज्ञान है तो सारे संकट टल जाते हैं। क्योंकि संकट किसी दूसरे पदार्थसे नहीं आते। किसी बाह्य पदार्थसे सुखकी, हितकी आशा करने से संकट उत्पन्न होते हैं। जहां अपने आपको एक अकेला विचारा वहां सारे संकट समाप्त हो जाते हैं। ऐसा उद्योग करके एकत्व भावनामें लगना चाहिए।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भिन्नपूतितनोरास्था स्वं किं लाभयते ततः।
कौ का निष्ठा निजास्थास्था स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३९॥

यह शरीर जहां कि आसक्ति और आदर है वह आपसे अत्यन्त जुदा है, अत्यन्त भिन्न है। जीव तो एक ज्ञानस्वभावात्मक पदार्थ है। उसमें जानन के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रतीति नहीं आती और जब मात्र जानन रहता है तब इसको निराकुलता होती है। इस प्रकार ज्ञान और आनन्दभावस्वरूप तो यह जीव है और यह शरीर जड़ है। रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड है, अत्यन्त भिन्न है। दूसरी बात यह शरीर अपवित्र है। देखो ना इस शरीरमें ठीक मध्यसे लेकर वीर्य, फिर हड्डी, मांस, मज्जा, खून और चमड़ी, अंतरसे लेकर बाहर तक सब अपवित्र चीजें हैं। तो क्या मैं ऐसा अपवित्र हूं? मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव वाला हूं। मैं अपवित्र नहीं हूं। ऐसी अपवित्रतामें आसक्ति होना, इसको कितना व्यामोह कहा जाय। अपने आपकी पवित्रता का मान नहीं हो पाता है। यह कितने खेद की बात है। हम आप सब आत्मा पूर्णसुखी हैं। सुखसे तो स्वरूप ही रचा गया है। अपने स्वरूपको छोड़कर बाहरी पदार्थोंमें दृष्टि देनेसे तो हानि ही है। शरीरके आदरसे क्या कुछ प्रतिष्ठा भी होती है? जो मनुष्य अपने शरीरका अधिक व्यामोही है वह न परोपकार कर सकता है और न प्रसन्न रह सकता है। जिसके व्यामोह है वह न स्वका उपकार कर सकता है और न परका उपकार कर सकता है। इसलिए शरीरका आदर करना विवेक नहीं है किन्तु अपने आप के स्वरूपका आदर करना विवेक है। कितना ही समय गुजार दें, कितना ही संयोगोंमें अपना समय व्यतीत करलें मगर शांति न मिलेगी। शांति तो अपने आपके आत्मावलोकनमें ही मिलेगी। यह जीव पूजा क्यों करता, भगवान् के दर्शन क्यों करता? यही ख्याल करनेके लिए कि हे प्रभु ज्ञान और आनन्दकी जिसको चाह है उसे सब यहीं प्राप्त होता है। वह ज्ञान और आनन्द अपने आपमें ही है, पर कैसा मोहजाल है कि अपने इस स्वरूपको भूलकर बाहरमें दृष्टि लगाता है। क्या किया जाय? शरीरका सम्बन्ध है, मोहका प्रताप है, मोह बसा हुआ है। अनेक ऐसे कारण जुटे हैं जिनके कारण हम अपने आपके स्वरूपको नहीं जान पाते हैं। बाहरमें अपनी दृष्टि फंसी रहती है। इस शरीरके आदरसे लोग अपनेको भूल जाते हैं। शरीरके आदरसे ही अपना आदर मानते हैं। किसीने कुछ कह दिया, कुछ शब्द बोल दिया तो आप आकुलित हो जाते हैं। आत्मामें तो उन शब्दोंका प्रवेश नहीं होता है लेकिन यह सोचकर आकुलित हो जाते हैं कि मुझे कुछ कह दिया है। वे अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं। ये स्वयं अपराधी हैं ना? सो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दूसरोंकी चेष्टाओंका अर्थ अपने आप पर लगाते हैं। जैसे एक बार तीन चोर चोरी करनेके लिए गये। एक चौथा नया चोर रास्तेमें मिला। बोला कि हमें भी साथ ले चलो। वे चोरी करने गये। जब चोरी कर रहे थे तो इतनेमें घरके मालिककी नींद खुल गयी। तीन चोर तो भाग गये। अब एक रह गया। अब कहां छिपे ? तो जिसे न्यारी बोलते हैं, घरके ऊपर तो उस बल्लीमें वह जाकर बैठ गया। लोग आये उस बूढ़े मालिकसे पूछते हैं कि कहांसे चोर आये थे ? क्या ले गये ? कितने थे ? दसों बातें पूछीं तो वह बूढ़ा अंतमें बोला–अरे मुझे क्या मालूम है ? यह सब तो ऊपर वाला जानें। उसका कहने का मतलब था भगवानसे, पर ऊपर बैठा हुआ चोर स्वयं कल्पनाएं बनाकर कहता है कि हूं हमीं क्यों जानें, वे तीन साथ वाले चोर क्यों न जानें? वह पकड़ लिया गया। हम आप अर्थ अपने आपही लगा लेते हैं। सबसे बड़ा काम है अपना अपराध क्षमा करना। मेरा अपराध क्या है ? अपराध है यही राग द्वेष मोह इष्ट बुद्धि, अनिष्ट बुद्धि, जो मिल गये उनको ही अपना मान लिया, यही हमारा अपराध है। यह अपराध क्यों है। कि अपने आपके अनन्त ज्ञानानन्द घनी इस प्रभुकी प्रभुताको बर्बाद कर डाला ? यही अपने आपके प्रभु पर इतना बड़ा अन्याय है। ऐसा अन्याय करते हुए हम आप हिचकचाते नहीं हैं। विषयोंमें मौज मानते हुए चले जाते हैं। अपने आप पर शुद्ध दृष्टि नहीं करते। इस अपवित्र शरीरको देखकर ही यह व्यवहार हो रहा है। अच्छा बोलना, बुरा बोलना, मित्र मानना, शत्रु मानना—ये सब इस शरीरको देखकर ही हो रहे हैं। अरे इस भिन्न अपवित्र शरीरकी आस्थासे क्या कोई लाभ हो सकता है ? क्या इस शरीरके आदरसे प्रतिष्ठा हो सकती है ? नहीं। केवल ज्ञानस्वरूपका आदर करो और प्रभुसे बार-बार यही प्रार्थना करो कि हे प्रभु मैं और कुछ नहीं चाहता हूं। केवल यही चाहता हूं कि मैं अपने ज्ञानस्वरूपको ताकता रहूं। उससे जो अमृत बरसता है उससे अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, मैं आनन्दमें लीन रहूं। इतना ही अपने प्रभुसे प्रार्थनीय होता है। यह पर्याय उपाधिकृत है। इस तरह सर्वप्रकारकी परिणमन करनेकी दृष्टि हो जाय और अपने आपके सहजस्वरूपमें विश्राम लेकर सुखी होऊँ।

नामाक्षरैर्न सम्बन्धो ह्यात्मनः किं तदाख्यया।
कों का निष्ठा निजास्थास्था स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–४०॥

निश्चयसे देखो तो इस आत्माका क्या नामके अक्षरोंसे सम्बन्ध है ? जिसका जो नाम है तीन चार छह अक्षरों का, अपने नामके तीन शब्दोंको बोलकर विचार करो तो सही, क्या उस नामके अक्षरोंसे आत्माका कोई

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सम्बन्ध है ? कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं। किन्तु विडम्बना इतनी बड़ी बन गयी है कि नामके अक्षरोंके लिए सब कुछ बर्बाद कर डालते हैं ? क्या बर्बाद होना कोई बर्बादी नहीं है किन्तु अपने आपकी श्रद्धा और ज्ञानाचरणमें च्युत हो जाते हैं। ऐसा नाम रखा हुआ आखिर स्वर व्यञ्जन से ही तो निकला हुआ शब्द है। इतना बड़ा नाम शब्द बन गया। सर्व शब्दोंसे हमारा सम्बन्ध है क्या ? नहीं है। किन्तु उन नामके अक्षरोंमें इतनी अधिक आसक्ति हो गई है कि बहुतसे नाम लिखे हों, उनमें आपका भी नाम लिखा हो तो अपने नामको बहुत जल्दी देख डालते हैं। बड़ी जल्दी पच जाता है। कोई आपके नामको धीरेसे कहकर बुलाए तो बड़ी तेजीसे सुननेमें आ जाता है। अभी नींदमें सोये हुए हों तो उस नामको सुनकर बहुत जल्दी उठ जाते हैं। और बातोंसे नहीं उठते। कोई खटपट हो रही हो तो उससे नहीं जाते। इतनी नामके अक्षरोंमें आसक्ति है। इन अक्षरोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं। मेरी आत्मा का तो कोई नाम ही नहीं है। यह तो एकचित्‌वस्तु है। ज्ञान और आनन्दस्वभाव को प्रकट करनेवाला एक पदार्थ है। जो है सो है। इसका नाम नहीं है, नाम तो लोकव्यवहारके लिए रखते हैं। आत्मा तो कोई व्यवहार नहीं करता, इसलिए आत्माका कोई नाम नहीं है। इस असमान चेतन द्रव्यपर्याय को लोकव्यवहार कहते हैं। यह जो शरीर बैठा हुआ है, यह न तो जीवकी चीज है, न कर्मोंकी चीज है, न आहार वर्गणाओं की चीज है किन्तु सबके संयोगसे होने वाली एक मायारूप चीज है। इससे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर नामके अक्षरोंसे कोई प्रतिष्ठा इस पृथ्वीपर होगी क्या ? अरे अपनी ही आस्था करो, अपने आपकी स्वयं अपनेमें प्रतिष्ठा करो तो इससे ही आनन्द प्राप्त होता है। यह मोहजाल बड़ा विकट बंधन है। मोहमें अपने आपकी गल्ती अपने आपको नहीं मालूम देती है। अपनी ही गल्ती अपने आपको नहीं मालूम पड़ सकती- ऐसी परिस्थिति को मोह कहते हैं। गल्ती करते हुए यह ध्यान यदि रह सके कि यह गलती है तो वहां मोह नहीं है, गल्ती जरूर है। मोह बड़ी गल्ती कहलाती है, अन्य गल्तियां कम गल्ती कहलाती हैं। हम भगवान्‌की भक्ति का आनन्द नहीं पा सकते हैं। भगवान्‌की भक्ति आनन्द हमें तब मिले जब मैं भगवान् के स्वरूपको अपने आपमें बसाऊं। जहां इतना व्यामोह है कि धन वैभव परिवार आदि अनेक चीजें अपने आपमें बसाए हुए हैं वहां भगवान् की भक्ति नहीं हो सकती। यहीं तो देख लो। कोई मनुष्य अपने मित्रके शत्रुसे भी प्रेम करता हो तो मित्रके द्वारा क्या आदर पा सकता है ? नहीं। भगवान् का शत्रु कौन है ? विषय कषाय या विषय कषायोंका शत्रु कौन है ? भगवान्।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो भगवान्‌के दुश्मन विषय कषाय हैं, भगवान्‌के शत्रु विषय कषायोंसे हमारी रुचि हो तो क्या भगवान्‌की भक्ति बन सकती है ? नहीं बन सकती है। तो हम इतना परिश्रम रोज करते हैं। सुबह मंदिर आना, नहाना, पूजा करना स्वाध्याय करना, इतना श्रम करते हैं पर इस श्रमसे लाभ नहीं ले पाते हैं। यदि इस श्रमके समय हम अपने चित्तसे अपने सब पदार्थोंको हटा दें, केवल भगवान्‌का ही अनुभव बनाएँ तो भगवान् की भक्तिसे कुछ लाभ मिल सकता है। किन्तु अपने इस पुरुषार्थमें इतना तेज, इतनी बुद्धि है कि लोग अपनी प्रतिष्ठाओंके लिए नामोंको पत्थरोंपर जड़वाते हैं, उल्लिखित करते हैं। काठ या पत्थर पर नामके अक्षर लिखवाते हैं। उन अक्षरोंसे आत्माका क्या सम्बन्ध है ? यह तो देखो कि शब्द जड़ हैं और आत्मा चेतन। शब्द तो क्षणिक हैं, यह आत्मा ध्रुव है। इतनी भिन्नता आत्मा और उन नामके अक्षरों में है। इतना ख्याल न करके मोहीजन उस नामके लिए कितना श्रम करते हैं। एक सुनारिनी थी। तो बहुत दिनोंके बादमें सुनारसे कहा कि कई वर्ष आपको धन कमाते-कमाते हो गये पर हमको एक भी गहना नहीं बना। हम को बखौरा बनवादो। बखौरा मोटे, टेढ़े किसी प्रकारके उसे बनवा दिये। अब इन देहातोंमें तो मोटी धोती पहिननेका रिवाज है और बड़ी धोती पहिननेका रिवाज है। उसकी वजहसे उसके बखौरे कोई दूसरा देख नहीं सकता था। एक दिन सोचा कि कितना हठ करके बनवाया, किसीने यह न कहा कि बड़े सोने बखौरे हैं, कब बनवाया ? उसके मनमें गुस्सा आ गया। गुस्सेमें न जाने क्या कर दिया जाय। उसने झट अपनी झोंपड़ीमें आग लगा दी। जब आग लग गयी तब उसका दिमाग खुला। सो लोगोंको बुलाती है, चिल्लाती है, अरे दौड़ो झोंपड़ी जल गयी, वहां बाल्टी है, वह कुवां है, वह रस्सी है हाथ फटकार फटकार कर रोती थी। लोग आए बुझाने लगे। जब बखौरोंसे धोती हट गयी तो एक औरत ने देख लिया, बोली अजी ये बखौरे तो बड़े सोने हैं। इनको कब बनवाया ? वह भी बोली, अरी रांड अगर यही शब्द पहिले कह देती तो आग क्यों झोंपड़ीमें लगती। सब धन है, भोजनके साधन हैं, पहिननेके साधन हैं, सब साधन हैं, फिर भी ये जीव कुढ़े जा रहे हैं। मेरा नाम अधिक नहीं हो पा रहा है, मैं अधिक धनी नहीं हूं, मैं कैसे बड़ा बनूँ ? अरे सबसे बड़ा बन लो पर अंतमें तो मरणा होगा ही। सब कुछ यहीं छोड़ जाना पड़ेगा। बड़े बनना है तो ज्ञानका स्वाद लो, अपनी शुद्ध दृष्टि बनाओ। अपनी ज्ञान ज्योतिको जगाओ कि मेरा अनुभव अलौकिक आनन्द हमें बराबर मिलता रहे। ऐसा महानुभव यदि बन सकता है तो आत्मजीवनकी सफलता है। नहीं तो बाहरी बातोंमें क्या

http://sahjanandvarnishastra.org/

है ? सब मिट जाने वाली बातें हैं। जिन लोगोंके अन्दरकी चाह करते हैं वे लोग भी मिट जाने वाले हैं। किनमें तुम आदर चाहते हो ? जिनसे किसी भी परपदार्थको अपने उपयोगमें स्थान दो। अपने आपमें सहज कातर प्राणी हैं। उनसे आदरकी चाह क्यों करते हो ? अपने स्वरूपको देखो। अपनी आस्था करो तो यह अपनी आस्था ही अपने आपका अर्थ करनेमें समर्थ है।

न किमेकदशारूपोऽनाद्यजनन्तस्तदा रुचिः।
काऽस्तु मे लोकनिक्षेपे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–४१॥

मैं किसी भी एक दशारूप नहीं हूं। क्या मैं मनुष्य हूं ? कुछ वर्षोंके लिए मनुष्य हूं। फिर तो मनुष्य न रहेंगे। मैं जो भी बन गया क्या वह मैं हूं वह भी कुछ समय के लिए चीज है हमेशा न रहेगी। मैं किसी एक दशारूप नहीं रहता हूं, इसलिए दशा मैं नहीं हूं। मैं तो स्वयं हूं जो अनादि कालसे रहने वाला हूं, अनन्तकाल तक रहने वाला हूं। जो मिट जाने वाला है वह मैं नहीं हूं। मैं किसी भी एक दशारूप नहीं हूं तब मेरी व्यवहार की क्या रुचि हो। यह श्रद्धा हो कि यह मैं नहीं हूं। बड़ा संकट जीव पर छाया है। क्या संकट जीवपर छाया है ? अपनी टेकका कुटेवका। परवस्तुकी वांछा न त्याग सकना, परवस्तुकी वृद्धिमें ही अपना बड़प्पन समझना, ये कुटेव नहीं छोड़े जा सकते हैं तो यही बड़ा संकट है। जो चाहते हैं वह नहीं हो पाता है तो भीतर में क्लेश मचाते हैं। धन्य हैं वे सम्यग्दृष्टि जन जो तीन लोक की सम्पत्ति को भी काग की पीट के समान दृ ऽ हैं। दृढ़ श्रद्धान् हो कि मैं आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा ज्ञान और आनन्द मेरे स्वाभाव से ही परिणमता है। किसी की आशा रखना व्यर्थ है, आशा रखो तो प्रभु से रखो। प्रभु से कैसी आशा करो कि हे प्रभु ! आपके स्वरूप को देखकर आपकी भक्तिके प्रसादसे केवल अपने ज्ञानके अनुभव का स्वाद लेता रहूं। इससे बढ़कर और जगत्में कोई सुख व शांति का उपाय नहीं है। अपना तो यह विश्वास हो कि ये लोग मेरा क्या सुधार बिगाड़ कर देंगे ? यह विचार करो कि जिससे आपकी अधिक प्रीति है उसके प्रेमसे आपको क्या मिलेगा ? प्रीति करते जावो वर्षों तक। एक दिन भी यदि उनसे बिगाड़ हो गया, वर्षों तक का प्रेम सब कूड़ेमें मिल जायगा। प्रेम कर रहे हैं और कहीं गड़बड़ी हो जाय तो क्या सम्भव नहीं है ? मनका न मिलना, मेल हो जाना यह तो बहुत कुछ सम्भव है। सब पृथक-पृथक हैं। अपने अपने कषायोंकी पूर्तिमें लगे यह तो सम्भव है ना ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एक दिन भी बिगाड़ हो गया तो वर्षों तक का श्रम मिट्टीमें मिल गया और यदि बिगाड़ हो गया तो उसके फलमें क्या शांति मिलेगी ? नहीं। अशांति ही मिलेगी। किसी पर विश्वास न रखो। किसीसे मेरा हित होगा, सुधार होगा, आनन्द होगा—ऐसा विश्वास न रखो। मान जावो भगवान् आचार्य देवका कहना। मान जावो जिनबाड़ी माताका उपदेश। किसी भी परपदार्थ में विश्वास न रखो। आपका गुजारा नहीं चलता है परपदार्थोंके बिना तो गुजारा चलावो, वहां रहना पड़ता है रहो, वहां लगना पड़ता है लगो किन्तु अन्तरङ्गमें यह विश्वास तो बनाए रहो कि मेरा हित, मेरा सुख किसी परपदार्थसे न होगा। किसी परपदाथमें ऐसा विश्वास न रखो। विश्वास रखो तो अपने आत्मस्वरूपमें, आत्मदेवमें। इतनी बात यदि नहीं कर सकते तो धर्म रंच भी नहीं हो सकता। मूल बात धर्मकी यह है। शरीरसे, वचनोंसे कितना ही धर्मके लिए श्रम किया जाय उससे धर्म नहीं होता, उससे शांति नहीं मिलती। धर्म तो अपने अन्तरके ज्ञानके प्रकाशसे होता है। किसी वस्तुपर मोह न ठहर सके ऐसा शुद्ध ज्ञान जग रहा हो तो वहां धर्म हो सकता है। तुम यहां आकर मंदिरमें अधिकाधिक यही यत्न करो कि सब बाह्यपदार्थोंको भूल जावो। बैठ जावो अपने हृदयमें, किसी भी परवस्तुका ध्यान न रखो। कोई परपदार्थ तुम्हारे आचरणमें आने लगते हों तो तुम परपदार्थोंको हृदयसे निकाल दो। ऐसा सोचकर कि इसमें हित क्या होगा ? ये क्षणिक चीजें हैं, इनमें विकल्प हैं, ये मिट जायेंगे, ये बर्बाद हो जायेंगे। किसी भी परपदार्थको अपने उपयोगमें स्थान दो। अपने आपमें सहज विश्राम करो तो ज्ञानका अनुभव होगा, आनन्दका अनुभव होगा। इस आनन्दके प्रतापसे कर्म कटेंगे। इस आत्मामें शांतिके लिए नानाकर्म किए किन्तु यह एक कार्य करके भीतरमें देखो। भीतरका कार्य केवल भावोंका कार्य है। केवल भावोंका साहस चाहे समस्त परपदार्थोंको अपनेसे खुद त्याग कर समझलो। कोई सोचे कि हम धीरे-धीरे मोह काट लेंगे तो मोह धीरे धीरे नहीं कटता है। मोह मिटता है तो एकदम ही मिटता है, धीरे धीरे नहीं मिटता है। मोह जब तक रहता है तब तक पूरा रहता है और जब कटता है तब पूरा कटता है। रागोंकी बात जरूर है कि धीरे-धीरे कटते हैं। राग धीरे-धीरे कटते हैं पर मोह एकदम कटेगा। घरमें रहते हुए, घरके सब काम करते हुए भी एक काम तो कर ही लो कि मोह किसीके रंच न रहे। आप कहेंगे कि क्या ऐसा हो सकता है कि मोह न रहे और घरमें बने रहें ? तो ऐसा भी हुआ करता है। मोह न रहे किन्तु परिस्थिति ऐसी है कि घरमें रहना पड़ता है। यह नियम नहीं है, पर बिरले ही प्राणी ऐसे हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि मोह के दूर होते ही घर को एकदम छोड़ सकते हैं। उसमें यदि किसी साझेदारी का व्यापार है। उसमें यदि किसी साझेदार का छल मालूम पड़ गया। अहो इसने इतना कपट किया, इसमें २० हजार की हानि पहुंचने वाली है। तो जब ऐसी बात होती है तो उसमें साझेदार से मोह रहता है क्या? यह अच्छा है, यह भला है, इससे सब कुछ है, ऐसा मोह नहीं रहता है। किन्तु आज ही यदि उस साझेदार से बिगाड़ करते हैं तो २० हजार का नुक्सान होता है। इसलिए मोह न रहते हुए भी साझेदार से राग किया जा रहा है। ऐसा व्यवहार किया जा रहा है कि जिससे वह घटा हुआ न समझ कर और समय पर रागोंको भी छोड़ देता है। अनेक दृष्टांत हैं। मुनीमको देखो दुकान पर बैठकर कितना काम करता है? सेठ तो नहीं करता है। और लोगोंसे यः भी कहता है कि मेरा तुम पर इतना गया, तुम्हारा मुझ पर इतना आया, ऐसा भी कहता है। यद्यपि उसका नहीं गया, मुनीमका नहीं गया, मगर कहना तो पड़ता है, तिजोरीकी रक्षा करता है। सब कुछ करता है पर अन्तरमें क्या यह मोह है कि यह मेरी सम्पत्ति है? मुनीमके अन्दर मोह कतई नहीं है। यहीं देख लो, लड़कियोंकी शादी हो गई। चार छः वर्ष हो चुके हैं। इसके बाद जब लड़की मां बापके घरसे ससुरके यहां जाती है तो रुदन करती है, पर क्या उस लड़कीके पिताके वैभवमें मोह है? रंच भी तो मोह नहीं है। उसे मोह लगा है अपने घरका। घरसे खींचना चाहती है। बहुत दिन हो जायें, माता पिताके घरमें रहती हो, तो यह कोशिश करती हैं खबर पहुंचाकर कि मुझे जल्दी लिवा ले जावें। और जब लिवाने जायेंगे तो उस समय भी रुदन मचाती हैं। रोना ही पड़ता है। पर अन्तरमें मोह है क्या? नहीं। एक नहीं बीसों उदाहरण ले लो। अंतरमें मोह नहीं है, फिर भी परिस्थितिवश राग करना पड़ता है। हम आपको ही कहते हैं, आप अपनी अच्छी परिस्थितिमें रह रहे हो, रहन सहन खानपान अच्छा है, सभी बातें हैं। आपके ज्ञान जग जाय, मोह हट जाये तो मोह हटने पर एकदम आपको लंगोटी और चद्दर बांधकर चलनेकी हिम्मत नहीं पड़ती है। परिस्थिति ही ऐसी है। आपके रहन सहनका ढंग ऐसा है कि नहीं निकलने पाते हैं और ऐसा नियम नहीं है निकल भी जाते हैं। पर मोह न रखो। घरमें रहना पड़ता है रहो, पर चित्तमें ऐसा विश्वास रखो कि मेरा हितकारी तो मैं ही हूं। मेरा हितकारी कोई दूसरा नहीं हो सकता। मेरा शरीर ही तो मेरा हितकारी नहीं। ये सब परिणतियां हैं, प्रवाह हैं, पर्याय हो जाती हैं, मगर किसी पर्यायमें मोह करनेसे हम संसारमें अटक जाते हैं। आप झांसीसे बम्बई को जाना चाहते हैं। आप रेलमें बैठ गये। बीचमें कई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बड़ी सुन्दर-सुन्दर जगहें मिलती हैं। यह फुलवाड़ी है, ये बेल हैं, यह पताका लगी है, सुन्दर मकान बने हुए हैं। क्या आप किसी बीचकी स्टेशनको सुन्दर देखकर रेलसे उतर जाते हैं? यह स्थान मुझे बड़ा सुन्दर लग रहा है, मैं तो यहीं पर जमूँगा। तो क्या उस स्थान पर जमते हो? नहीं, केवल आंखों देख लेते हो कि बड़ी सुन्दर स्टेशन है। ऐसा भाव बनाकर आगे चल देते हो। क्योंजी, उस छोटीसी स्टेशनको सुन्दर जानकर आप उतर जायेंगे तो क्या होगा? आप अटक जायेंगे या आपका काम बनेगा? आप अटक जायेंगे तो आपको दुःख होगा। जितने बाहरी पदार्थ हैं सबको देख भर लो। ज्ञाता द्रष्टा रह जावो। उनको छुए न रहो, पकड़े न रहो। केवल ज्ञाता द्रष्टा रह जावो। यदि इतना उद्यम बना सकते हो तो आप बम्बई पहुंच सकोगे। इसी प्रकार अपना लक्ष्य होना चाहिए प्रभुकी तरह पूर्णज्ञान और आनन्द के विकासमें मग्न रहनेका। इस उद्देश्यको लेते हुए आप चलिए। आपको नये-नये भव मिलते हैं, सुन्दर स्टेशन मिलते हैं। यदि सुन्दर रूप पाया हो, सुन्दर समागम पाया हो, धन वैभव पाया हो तो उस सुन्दरता पर मत रीझो। ये बीचके स्टेशन तो छूट जाने वाले हैं, इनमें आसक्ति न रखो, फिर अपने वाहनको तेज कीजिए। फिर अपनी भावनाकी सवारीको तेज बनाओ कि मुझे मोक्ष जाना है, मुझे केवल बनना है, मुझे पूर्ण ज्ञानानन्दमय होना है। अपनी इस यात्राको आगे बढ़ाओ। बीचके भवोंकी सुन्दरता पर मत रीझो। आज मान लिया ५० हजारकी जायदाद पायी, एक लाखकी जायदाद पायी तो क्या यह नहीं हो सकता था कि आप १०० रुपट्टी वाले रह सकते? जब १००-२०० की पूंजी वाले रहते तो क्या गुजारा न करते? कदाचित् इतना वैभव मिल गया है। उसमें अपनी हिकमत मत समझो। उसमें अपनी कला न समझो। पूर्वमें धर्म किया था उससे ही यहां यह वैभव मिल गया है। आपके हाथ पैरोंसे वैभव नहीं मिला किन्तु पूर्वकृत कर्मोंका सब फल है। दो प्रकारके पुरुषार्थ हैं। एक संसारी वैभव सम्बन्धी और एक मोक्ष सम्बन्धी। सांसारिक वैभव का आधार तो पुण्यका उदय है और मोक्ष जानेका आधार आत्माका पुरुषार्थ है। भाग्य और पुरुषार्थ—जिसको तुम पुरुषार्थ कहते हो वह पुरुषार्थ नहीं है, वह खोटा उदय है, वह विपरीत उदय है। पुरुषका जो स्वरूप है उसको पुरुषार्थ कहते हैं। आत्माका जो पद है उसके लिए जो परिश्रम होता है भावात्मक उसे पुरुषार्थ कहते हैं। यहां जो कुछ मिला है सो पुण्यके उदयका फल है। उस पुण्यके उदयके साथ थोड़ा श्रम हो जाता है, पुण्यका उदय न हो तो कितना ही श्रम करो। तो उससे धन नहीं प्राप्त हो सकता है। उदयके साथ ही आपके पास ऐसी बुद्धि आती है कि वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चीज आपको मिल जाती है। वह वैभव कैसे मिलता है ? जब पुण्यका उदय है तो वह लक्ष्मी मिलती है। जब आप लक्ष्मीसे मुख मोड़कर चलें तो ऐसी स्थितिमें पुण्य विशेष बंधता है। जैसे छायाके पीछे दौड़ो तो छाया नहीं पड़ती और उससे विमुख होकर चलो तो वह पीछे चलती है। लक्ष्मीसे यदि आप विमुख रहें तो आपके पीछे चलती है। अपने सबसे भिन्न ज्ञान मात्र स्वरूपका आदर करो, प्रभुकी भक्ति करो तो तुम्हारा पुण्य होता है और लक्ष्मी पीछे-पीछे चलती है। तो इसका कारण पुण्य है। पुण्यका कारण तेज ज्ञान है और उसका कारण वस्तुस्वरूपका बोध है। इसलिए लौकिक जीवों और अलौकिक जीवों दोनों के लिए यह कर्तव्य है कि वस्तुस्वरूपका ज्ञान करो, अपने प्रभुकी भक्ति करो, फिर उस भक्तिमें ही लीन रहो। बाहरी वस्तुवें जो प्राप्त होती हैं उनका आदर इस लोकव्यवहार में न हो और अपने ज्ञानानन्दस्वरूपका आदर हो।

रागवह्नीन्धनं दृश्यं किं संचित्येन्धनं स्वयम्।
शीतलोऽपि पतान्यग्नौ स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४२॥

यह दिखने वाला समस्त जगत् रागरूपी आगके लिए इंधन है। जैसे इंधन आगके प्रति क्या काम करता है ? आगको संतुष्ट करता है क्या ? संतुष्ट नहीं करता किन्तु आगको बढ़ाता है। इसी प्रकार ये जगत्के विषय राग बढ़ानेके कारण बनते हैं। रागोंको संतुष्ट नहीं कर सकते। जैसे इस परिग्रहसे कभी संतोष हो सकता है क्या ? ऐसी आशा की, कहा फिरी आशा तेरी पूर्तिके लिए बहुत साधन जुटाये, परिग्रह जुटाया पर तू संतुष्ट हुई अथवा नहीं ? यदि तू संतुष्ट हो गयी हो तो अब जा और संतुष्ट न हुई हो तो तुझे संतुष्ट होना ही नहीं है। चाहे तीन लोकका परिग्रह एकत्रित कर लिया जाय पर संतोष नहीं होता है। ये सब दृष्यमान् पदार्थ रागरूपी अग्नि के लिए इंधन हैं। यह जीव कितनी ही बार धनी हुआ है, राजा महाराजा भी हुआ है, फिर भी जिस भवमें जैसे कि इसही भवमें जो कुछ थोड़ा साधन पाया है, उसमें भी ऐसा राग करता है जैसा कि उसे कभी कुछ मिला ही न हो। अब इस बार जो कुछ मिला है सो उससे परिग्रहमें खब आसक्ति करले। अरे जैसा परिग्रह पाया है उससे लाख गुणा परिग्रह कई भवोंमें पा लिया है, उससे भी संतोष नहीं हो सका था। मगर ऐसी आदत पड़ी है जैसे भूख लगती है ना ? जैसे आज उड़द की दाल रोटी खायी, वैसे ही रोज खाते हैं, वैसी ही रोटी दाल कल भी खायी थी। तो रोटी दाल दूसरे दिन वही वही खाते हैं पर रोज रोज अनोखी लगती है। इसी प्रकार कई भवोंमें पायी हुई सम्पदाके बाद इस जीव को इस भवमें जितनी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्पदा मिली है वह इसे अनोखी लगती है। इस आत्मदेव पर बड़े संकट हैं। वह संकट है परकी दृष्टि। परकी दृष्टि हटे तो इसके संकट दूर हो सकते हैं। सम्बन्ध कुछ नहीं है, परिग्रह भी अटसट आता है। आपके आया है। विचारने की कला से नहीं आता है। पूर्वकृत पुण्यका उदय है तो यह आ गया है, मुफ्त ही मिल गया है। आपके पुण्यका उदय था इसलिए यह हो गया है। एक दृष्टिमें जिसे जो कुछ मिलता है यों मुफ्त ही मिलता है। उसमें मेरी आत्माका बल प्रविष्ट नहीं होता है। और जब जायेगा तो यों ही मुफ्त जायगा। एक चोर था। वह राजाकी अश्वशालामें चला गया। एक बहुत बढ़िया काला घोड़ा चुराकर ले आया। बाजारमें खड़ा कर दिया जहां पशु बिकते थे। लोग आए घोड़ा देखा, सुन्दर था ग्राहक बोले—घोड़ा बेचोगे? बोला हां, बेचने को ही आया हूं। तो कितनेका बेचोगे? था ३०० रुपयेका और बताये ६०० रु० का ताकि यह न जान सकें कि यह चोरीका है। सात आठ ग्राहक निकल गये। अब एक बूढ़ा चोर निकला, पूछता है घोड़ा बेचोगे? हां। कितनेका? ६०० रुपयेमें। जब यह आवाज सुनता है तो जान जाता है कि यह चोरीका है। बोला भाई इसमें ६००) की क्या कला है? अजी इसकी चालकी ऐसी कला है कि ६०० रुपये क्या, कई ६०० रु० न्यौछावर हो जायें। कहा अच्छा देखें, यदि अच्छा है तो ६०० क्या सवा नौसो देंगे। बूढ़ा चोर जो मिट्टीका हुक्का लिए था सो उसे पकड़ा दिया और स्वयं घोड़े पर बैठकर उसे उड़ा ले गया। अब थोड़ी देर में पुराने ग्राहक आते हैं। पूछते हैं कि क्या घोड़ा बिक गया? हां बिक गया। कितनेमें बिक गया? जितनेमें लाये थे उतनेमें बिक गया। तो मुनाफा क्या मिला है? मुनाफामें मिला है एक तीन आनेका मिट्टीका हुक्का सो इसी तरह ये सारे भौतिक पदार्थ जिनके आत्माके प्रदेशोंका प्रवेश नहीं, बलका प्रवेश नहीं, ये यों ही मुफ्तमें मिले हैं और यों ही मुफ्त जायेंगे। मुनाफेमें कुछ मिलेगा क्या? मुनाफेमें मिलेगा क्या? कर्म। कर्मबंधन पाप का हुक्का मिलेगा। याने जो कुछ प्राप्त हुआ है उसमें जो ममता है उस ममता परिणामके कारण जो पापोंका संस्कार बना वह मरने पर साथ जायगा। बाकी परपदार्थोंके परिग्रह ये मेरे साथ नहीं जायेंगे। ये मुफ्त ही मिले हैं, मुफ्त ही चले जायेंगे। बुद्धिमानी इसमें है कि परिग्रहकी बुद्धि न करो। मुझे अपना सदुपयोग करना चाहिए। उसमें यह नहीं ध्यान रखना चाहिये कि ये घरके लोग हैं ये ही मेरे सर्वस्व हैं उनके लिए सब कुछ है और अन्य लोगोंके लिए एक पाई भी नहीं है। इतनी आसक्ति किसीमें न होनी चाहिए। जीव है उनकी यह व्यवस्था है। आपने अपने घरके ५,७ लोगोंकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

व्यवस्था कर लो सो यह व्यवस्थाकी लिहाजसे तो ठीक है, पर इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि मेरा तन, मन, धन, सर्वस्व इन दो चार घर के प्राणियोंके लिए है और दूसरोंके लिए इसमें से फूटी पाई भी नहीं है। इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि यह अन्याय है अपने आपके प्रभु परये। घरके ही दो चार लोग तुम्हारे कसे हो गए और भी अनन्त जगत्के जो जीव हैं। उनमें से यह छटनी बड़ी जल्दी कर लेते हैं कि ये चार लोग मेरे हैं। यह अपने आपके प्रभु पर बड़ा अन्याय है। इससे जीवोंका उत्थान न होगा। ऐसी अनुदारतासे, व्यवस्थाके आदरसे परिवारकी संभाल की जाने पर परिवारमें इतनी आसक्ति न रखो कि सब कुछ इन्हींके लिए है। इतनी आसक्ति न रखिये अन्यथा इसका फल संसारमें रुलना ही है। यह समस्त दृष्यमान् जगत् इस रागरूपी अग्निके लिए ईंधन है। ईंधनको बटोर कर यह मैं शीतलस्वभावी होता हुआ ऐसी अग्निमें क्यों गिर रहा हूं ? रागोंमें क्यों पतित हो रहा हूं ? दृष्टि ही का तो फेर है। सर्व कुछ करने पर भी आप यों समझें कि हमें यों करना पड़ता है। जैसे कहावतमें कहते हैं कि गले पड़े बाजय सरे। इसका मतलब यह है कि दोस्तोंने एक दोस्तको नीचा दिखाने के लिए एक ढोलक गलेमें डाल दिया ताकि वह झेंप जाय। तो वह दोस्त भी बड़ा चतुर था। उसने दो लकड़ियां उठायीं और प्रेमसे ढोलक बजाने लगा ताकि झेंप न लेना पड़े और मजाक करके बढ़ रहा है। तो गले पड़े बजाय सरे। इसी प्रकार आज गृहस्थीमें सम्बन्ध हो गया है सो गृहस्थी को निभाने से ही सरेगा। पर आसक्ति न रखो कि ये मेरे सब कुछ हैं। ज्ञान जगाते रहो, यह ज्ञान ही मेरा सब कुछ है। जैसे ये घरके लोग हैं वैसे ही और जीव हैं। जगत्के अनन्त जीवोंको माना कि ये मेरे कुछ नहीं हैं और घरके चार जीवोंको मान लिया कि ये मेरे हैं। इस जीवका विषय त्याग नहीं हो सका, इसलिए घर बसाना पड़ा और यह कुटुम्ब बना। तब मेरा भार हम पर है। हम मेरी रक्षा करते हैं पर मेरे ये कुछ नहीं हैं। ऐसा भीतरमें श्रद्धान् रखो। घरमें इस तरह न बोलो नहीं तो लड़ाई हो जायेगी। कि तुम मेरे कुछ नहीं हो, तुम सब नरकमें ही ले जानेके कारण हो। बोलने की आवश्यकता नहीं है। आप अपने अन्दर मनमें ठीक भावनाएँ बनाओ तो मोह अंधकार नहीं रहता है। विवेक जगता है तो गृहस्थावस्थामें भी रहकर आप कर्मोंकी निर्जरा कर रहे हैं। इस तरह मोक्षमार्ग में चल रहे हैं। जगत्के जो कुछ परपदार्थ हैं वे सब मेरे रागरूप अग्निको बढ़ाने के लिए ईंधनकी तरह हैं। ये सब सुखके लिए नहीं हैं। ऐसा अन्तरमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए। मैं क्यों इस राग आगमें जलूँ ? सो इस राग दाह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

को तजो। यह रागरूप आग सदा जीवको जला रहा है। सो क्या करना चाहिए? समतारूप सम्बन्धका सेवन करो। विषय कषायोंको छोड़ दो। और अब तो अपने ज्ञानस्वरूपके दर्शनमें आवो। शास्त्र पढ़ना, पूजा करना त्यागियोंकी सेवा करना, धर्मचर्चा करना, इनको इसी रूपमें न समझो, किन्तु इन सब बातोंसे अपना धर्म हित समझो। मैं अपनेमें बसे हुए ज्ञानामृतका कैसे पान करूँ? कैसे मेरी स्थिति आवे कि मैं केवलज्ञानका अनुभव रखूं? ऐसी उत्सुकता से इस ही प्रयोजनके लिए सत् आवश्यकता का निर्वाह करना चाहिए। केवल पूजाका काम है, पूजा करते हैं, किसलिए करते हैं कि उस समय अपने आपमें ऐसा अनुभव करें कि यह मैं केवल ज्ञानशरीरी हूं। ज्ञान ही इसका शरीर है, कलेवर है। ज्ञानके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूं। मैं ज्ञानका ही कर्ता हूं, ज्ञानका ही भोक्ता हूं, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मेरा वैभव है, ज्ञान ही मेरा पिता है, ज्ञान ही मेरा रक्षक है, गुरु है, मित्र है, भगवान् है। इस ज्ञानस्वरूपमें मैं स्थित होऊँ। भगवान्की पूजा, स्वाध्याय, सत्संग इन सबका उपयोग करो और यह बहुत बड़ी समस्या है इस जीवकी कि इस जीवनके बाद और उत्तम जीवन पाऊँ, मोक्षमार्गमें लगूँ संसारके संकटोंसे दूर होऊँ। इस परिवारको, वैभवको, इन सब लौकिक सम्पदाओंको सोचने विचारने, संचित करने से इस जीवको लाभ क्या होगा? किन लोगोंमें हम बड़प्पन चाहते हैं। ये ही दुःख इस संसारमें रुलाने वाले हैं, स्वयं ही ये अपनी बर्बादी करने वाले हैं। इनमें अपना बड़प्पन चाहने से क्या लाभ है? कोई मेरी इस आत्माको मत जानों, कोई न पहिचानों। मुझे जो भी संसार है उसकी आवश्यकता नहीं है। मैं अपने आपके ज्ञानस्वरूपको निहारूँ और सदाके लिए संसारके झंझटोंसे मुक्त होऊँ।

मृत्यै के ह्युद्यताः मृत्युरायात्याकस्मिकं ततः।
संदिग्धायुषि सद्दृष्टया स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ७-४३॥

मृत्युके लिये कोई तैयार होकर बैठता है क्या? कोई जैसे विवाहोंमें महीनों पहिलेसे कार्ड बनाए जाते हैं, निमंत्रण भेजे जाते हैं। शादी फलां दिन फलां तारीखको इतने बजे होगी। इस प्रकारसे मृत्युकी भी ६ माहसे तैयारीकी जाती है क्या कि फलां दिन फलां तारीखको इतने बजे हम मरेंगे। क्या मृत्युके लिये कोई तैयारी की जाती है? यह मृत्यु तो आकस्मिक हो जाती है मर गया तब पता पड़ता है कि मरण आ गया। ऐसी आयुका इतना बड़ा संदेह है कि किस समय क्या हो जाय इस जीवनका—ऐसे संदिग्ध जीवनमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या करना चाहिए ? इसका विचार करना है। हमें अपनी दृष्टि सत्य बना लेनी चाहिए। इस संदिग्ध जीवनमें गंदी दृष्टि प्राप्त कर ली तो क्या लाभ है ? धन वैभवके लिये होड़ नहीं मचाना चाहिए। यह जगत तो असार है, यह आयु संदेश है, किनसे होड़ मचा रहे हो ? और उदयके अनुसार जो कुछ प्राप्त हुआ है उसके ही विभाग कर लो। एक धर्मका विभाग, एक दानका विभाग, एक कुटुम्ब पोषणका विभाग, एक आगामी कार्योंके लिए संचयका विभाग। और ऐसे विभाग करके रहनेसे यदि कभी सूखी रोटियां भी खाकर गुजारा करना पड़े तो उसमें प्रसन्न रहो और उसमें भी समझो कि मेरी क्या हानि है ? मेरा जीवन तो धर्म-धारणके लिए है, मेरा जीवन शुद्धाचरण निभानेके लिए है। कोई परवाहकी बात नहीं है। लोकमें निन्दाका भय है। इन लोककी बातोंमें न आ जाओ। यहां कोई भी तो नहीं रहेगा। सब सिनेमा के जैसे चित्र होते हैं। आये और चले गये। यह जगत पूरा सिनेमाकी तरह है यहां कोई कुछ नहीं कर रहा। ये सब चीजें ज्ञानियोंके ज्ञानसे परे हैं। यहां किसीका संकोच नहीं करना किन्तु अपने आपके आत्माके सुधारकी बात पर ध्यान दो तो कल्याण है।

ज्ञातुं कथं श्रमं कुर्यां ज्ञेया भान्ति स्वयं ततः।
सर्वं श्रमं परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ७-४४ ॥

ओहो मैं किन्हीं पदार्थोंके जानने लिए श्रम क्यों करूँ ? यह मेरे ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि जो इसमें सत् है वह स्वयं ज्ञात होता है। यह समस्त ज्ञेय ज्ञानका विषयभूत है, आधारभूत नहीं है। उनमें मेरा ज्ञान प्रकट होता है ऐसी बात नहीं है कि ज्ञानका स्वयं ही स्वभाव है कि जो कुछ विश्वमें सत् है वह सब अज्ञेय हो जाता है। यह ज्ञानकी स्वच्छताका प्रताप है। मैं किन्हीं पदार्थोंको जाननेके लिए क्यों श्रम करूँ। यह ज्ञेय तो स्वयं मुझमें प्रतिभास होता है। सर्व आश्रयोंको छोड़ो। ओह जाननेका भी तो हमें परिश्रम नहीं करना है। इस असार जगतमें क्या करना है ? समस्त पदार्थों को छोड़कर एक क्षण स्वविश्राममें रत हो जावो तो अपने आपमें बसा हुआ सहजानन्द प्रकट हो जायगा। समस्त गुणों को छोड़कर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

न भोगो भोक्तुमायाति सन् बुद्धिस्थोऽघकारणम्।
किं तं बुद्धिगतं कुर्यां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ७-४५ ॥

ये भोग मेरे भोगनेमें नहीं आते। खब ध्यानसे सोचिये, ये पंचेन्द्रियों के भोगोंके साधन रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले पौद्गलिक पदार्थ ये मेरे भोगने में नहीं आते, किन्तु उनके बारेमें मैं भुगता हूं, कल्पनाएँ करता हूं। सो उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बुद्धिमें भोगने की बात लेकर केवल पापोंका कारण बनता हूं। वैसे भी भजन में बोलते हैं - 'भोगे तो भोग क्या हैं ? भोगने भोगा तुमको'। कहते हैं किं भोगोंसे तुम खुद भुग जाते, भोग नहीं भोगे जाते। तो उन पुद्गलोंकी पकड़ में खुदका बिगाड़ होगा। भोगके साधनकर्ता ज्योंके त्यों अपनी सत्तामें पड़े हैं अर्थात् भोगनेमें वे स्वयं कुचल जाते हैं जो भोग करते हैं। भोजन जब किया जाता है तो कुचलनेसे वह पानी बन जाता है। कुछ भी पौद्गलिक पदार्थोंका बिगाड़ नहीं रहा। मेरी आसक्ति ने ही मुझे तिरोहित कर दिया। तो भोगोंके भोगने पर हमारा ही बिगाड़ होगा, भोगोंका बिगाड़ नहीं होगा। तो हमने भोग नहीं किया, भोगोंने हमको भोगा। मैंने स्वयं अपनेको बर्बाद कर डाला। भोग हमारे भोगनेमें आ रहे हैं और हम पापोंके कारण बनते हैं। मैं कुबुद्धि करके उन भोगोंको क्यों करूँ ? मैं तो उन भोगों को तजकर अपने में अपने लिए, अपने आप स्वयं सुखी होऊं। दो ही तो बातें हैं जीवके लिए। एक ज्ञान बढ़ाना और दूसरा भोग भोगना। इन दो में ही तो उत्सुकता होती है। भोग भोगनेकी उत्सुकतामें तो यह जाननेका केवल श्रम करता है। मैं ज्ञान स्वरूप हूं। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि जो सत् हो स्वयं ज्ञानमें आ जाता है। अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवल ज्ञानों की बड़ी प्रशंसाकी जाती है। बात क्या हुई ? प्रशंसाकी कुछ बात नहीं। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि सामने हो, पीछे हो, भूत में हो, भविष्यमें हो, सत्तायुक्त हो वह ज्ञानमें आयेगा ही। इस ज्ञानके बाधक आवरण कर्म हैं। ऐसा हमें ज्ञानमें नहीं आता और उसमें ही आश्चर्य करते हैं। यह तो अपने आप ज्ञानमें आता है। रही भोगों की बात, भोगोंको हम नहीं भोगते किन्तु भोगनेके अभिप्रायमें उन भोगोंसे हम खुद भुग जाते हैं। सो मैं सर्वभोगोंमें बुद्धि क्यों करूँ ? मैं अपनेमें अपने आप विश्राम पाकर स्वयं सुखी होऊं।

कल्पनया यया प्राप्तोऽकल्प्यः सापि न मे यदा।
कोऽन्यो भव्यः पुनस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ७-४६॥

अहा मैं आत्मा अकल्प्य हूं। मैं स्वभावसे स्वतःसिद्ध हूं, एकस्वरूप हूं। मेरा पता सही तब पड़ता है जब किसी प्रकारकी मुझमें कल्पनाएँ उठती हैं। विकल्प तरगें नहीं उठती हैं। आज सुबह एक भाई-साहबने प्रश्न किया था कि जीवको हम विशद नहीं जान पाते हैं, चर्चासे ही समझते हैं। जीव को समझनेका उपाय चारित्रसे है। मतलब किसी वस्तुका मोह न हो, राग न हो, द्वेष न हो, विकल्प न हो, ऐसी स्थितिमें परमविश्रांति रहती है। इस विश्रामसे यह आत्मा विशद ज्ञात हो जाता है। तो आखिर कुछ भी तो कल्पनाएँ करते हैं। किसी कल्पनाके द्वारा ही तो उस अकल्प्य आत्माको प्राप्त किया

http://sahjanandvarnishastra.org/

जाता है। ये कल्पनाएँ भी मेरी नहीं हैं तो परपदार्थ मेरे क्या होंगे ? जैसे कहते हैं ना कि शरीर ही मेरा नहीं है तो धन मेरा क्या होगा ? इससे भी बढ़कर सोचो, रागद्वेष ही मेरे नहीं है तो बाह्यपदार्थ मेरे क्या होंगे ? जिस रागसे हम बाह्यपदार्थोंसे प्रेम करते हैं वे राग मेरे नहीं हैं तो परपदार्थ मेरे होंगे ही क्या ? इससे भी बढ़कर सोचिए कि जिन कल्पनाओंसे, विचारसे, वितर्कोंसे इस आत्माको समझ पाते हैं वह ज्ञान वितर्क भी मेरा नहीं है तो जगत्के अन्य पदार्थ मेरे क्या होंगे ? सो भाई बाह्यपदार्थ तो मेरे हैं ही नहीं। मैं शब्दविभक्त अपने आपके स्वरूपरत चैतन्यमात्र जीव हूं। सो उस चैतन्यस्वरूप पर ही झुकाव करो, बाहरी पदार्थोंपर झुकाव न करो। इस ममताका बड़ा खोटा फल है। इस ममताके प्रसादसे ये पुद्गल बनते हैं, कीड़े मकौड़े बनते हैं। जो हम दुःखी हो रहे हैं वह ममताका ही प्रसाद है। इस कारण ममताको न करो, सब जीवोंको समान निरखो और अपने आपमें यथासम्भव अधिकसे अधिक समय तक निरीक्षण किया जाय। अपने आप पर हम दया कर सकें तो अपने आपमें हम कुछ लाभ पा सकेंगे अन्यथा यह जीवन पर्वतसे गिरने वाली नदीकी तरह वेगपूर्वक चल रहा है। वह समय निकट है जब कि मृत्यु हो जायगी। इस दुर्लभ नर-जीवनको व्यर्थ न गंवावो। अपने कल्याणकी भी बात सोच लो।

॥ सुख यहां चतुर्थ भाग समाप्त ॥

मुद्रक—खेमचन्द जैन, शास्त्रमाला प्रिंटिंग प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

Version 1